# भागवत धर्म सार

(मीमांसा सहित)

विनोबा

# भागवत-धर्म-सार

## ( मीमांसा-सहित )

•



विनोबा

•

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

भागवत-धर्म-सार
(मीमांसासहित)

●

विनोबा

●

संस्करण : चौथा
प्रतियाँ : २,०००
कुल प्रतियाँ : ८,०००
मई, १९९६

●

प्रकाशक :
सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१००१
(उ० प्र०)

●

मुद्रक :
सुरभि प्रिंटर्स
इन्डियन प्रेस कालोनी,
मलदहिया, वाराणसी-२२१००२

●

मूल्य : तीस रुपये



BHAGAWATA-DHARMA-SARA

●

VINOBA

●

Price : Rs. 30.00

# प्रस्तावना

**[ मराठी संस्करण से ]**

भागवत ने जिसके मन को पकड़ न लिया हो, जिसके चित्त को रिझाया न हो, रमाया न हो और शान्त न किया हो, ऐसा कौन भक्त इस जाग्रत भारत में हुआ होगा ? भट्टाद्रि, पोतना, शंकरदेव, चैतन्य, वल्लभ, जगन्नाथदास, सूरदास, एकनाथ—ये तो भागवत के प्रत्यक्ष सेवक ही हैं, किन्तु अन्य भी जो असंख्य सन्त-महन्त भारत में हुए, सभी भागवत की मोहिनी से मुग्ध हो गये, फिर वे अशिक्षित या गँवार ही क्यों न हों। केरल, कश्मीर और कामरूप—इस त्रिकोण की पकड़ में जो भी आया, वह भागवत से छूटकर भाग नहीं सका। तुकाराम ने तो भक्त का लक्षण ही यह बताया है :

**गीता भागवत करिती पठण।**
**अखंड चिन्तन विठोबाचें॥**

( अर्थात् भक्त वही, जो गीता और भागवत का पाठ और विठोबा का अखण्ड चिन्तन करता है। )

जहाँ से कोई न छूट पाया, वहाँ से मैं भी कैसे छूट पाऊँ ? गीता के तुलनात्मक अध्ययन के निमित्त ही क्यों न हो, भागवत मुझे देखनी ही पड़ी। और "वाचा एकोबाचा भागवत-अध्या रे बापानों" ( अर्थात् भाइयो ! एकनाथ की भागवत पढ़ो )। इस अमृतोपदेश के अनुसार भागवत के एकादश स्कंध का अध्ययन एकनाथ ने मुझे अनेक बार कराया। वह कहानी 'एकनाथांचीं भजनें' पुस्तक में मैंने लिख दी है। मुझे मानना पडा कि गीतारूपी दूध में भागवत ने मधु की मिठास डाल दी।

भूदान-यात्रा में जो थोड़ा-बहुत मेरा अध्ययन चला, उसका स्वरूप संग्रह का नहीं, दान का है। लोक-हृदय में प्रवेश के निमित्त तत्-तत् प्रांत की तत्-तत् भाषा के साहित्य का अध्ययन मुझ पर लादा जाता है, मतलब यह कि प्रेम से ही मैं उसे अपने ऊपर लाद लेता हूँ। उड़ीसा की भूदान-यात्रा में उड़िया भाषा सीखने के निमित्त उड़ीसा के भक्त-शिरोमणि जगन्नाथदास द्वारा रचित भागवत

का अध्ययन करने का अवसर मिला। अध्ययन के लिए उनका एकादश स्कंध हम लोगों ने चुना। यात्रा के बीच ही घंटा-आध-घंटा रुककर किसी खेत में एकान्त में बैठकर हम सब यात्री मिलकर सह-अध्ययन किया करते। तुलना के लिए मूल संस्कृत और एकनाथ का हरिरंग में रँगा विवरण, श्रीधरी टीका सहित, मैं बीच-बीच में देख लेता। उस अध्ययन में से यह 'भागवत-धर्म-सार' हाथ लगा, जो अब वर्धा के ग्राम-सेवा-मंडल की कृपा से अर्थसहित पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके लिए पाठक ग्राम-सेवा-मंडल का आभार मानें।

इसमें जोड़ा हुआ अर्थ महाराष्ट्र के परिचित भागवत-धर्मी और सर्वोदय-प्रेमी श्री कुंटेजी ने किया है और श्री दादासाहब पंडित ने कृपापूर्वक उसे जाँच लिया है। कुछ कठिन स्थल जो मेरे सामने लाये गये, मैंने भी देख लिये। भागवत के विशेष कठिन स्थल विद्वानों को भी स्पष्ट नहीं होते, यह प्रसिद्ध ही है। इस विषय में **'विद्यावतां भागवते परीक्षा'** यह कहावत भी है। किन्तु 'अति कठिन स्थल अधिक महत्त्व के नहीं होते', ऐसा हम लोगों ने सुविधा का शास्त्रार्थ मान लिया है। इस कारण इस संकलन में मुझे विशेष अड़चन नहीं पड़ी, फिर भले ही वह समझ में न आये। इसके अतिरिक्त जैसे वेद शब्द-प्रधान है, वैसे भागवत भाव-प्रधान मानी गयी है। इसलिए दोनों के बारे में अर्थ एक हद तक गौण बन ही जाता है, यह भी एक सुविधा है। अनुरूप यथास्थित शब्दार्थ समझ में न आये और कुल मिलाकर भावार्थ समझ में आ जाय, तो भी भावुकों का काम चल जाता है। इसलिए अब किसी तरह का संकोच न करते हुए,

**'पिबत भागवतं रसमालयम्'**—

इन शब्दों में सबको रसपान के लिए आमंत्रण देने में कोई हर्ज नहीं।

**जि० उत्तर लखीमपुर**

**( असम )**

**२६-५-'६१**

विनोबा का जय जगत्

# प्रकाशकीय

'भागवत-धर्म-सार' का हिंदी अनुवाद श्री सुशीला बहन ने श्री कुंटेजी के मूल मराठी अनुवाद पर से किया। उसके बाद श्री गो० न० वैजापुरकर शास्त्रीजी ने उसमें दादासाहब पण्डित और मनोहरजी दीवाण के परामर्श से कुछ दुरुस्तियाँ कीं। अब यह आवृत्ति पू० विनोबाजी ने मराठी में जो दुरुस्तियाँ की हैं, उसके अनुसार सुधारकर प्रकाशित की जा रही है।

'भागवत-धर्म-सार' के ३१ अध्याय या प्रकरण हैं, जो मूल संस्कृत भागवत की अध्याय-संख्या ( ३१ ) से संवाद करते हैं। फिर भी इन ३१ प्रकरणों के नाम उनसे अलग और बाबा की अपनी प्रतिभा का विलास है। मूल संस्कृत भागवत के कुल १५१७ श्लोकों में से केवल ३०६ श्लोक इसमें लिये गये हैं।

'भागवत-धर्म-मीमांसा' पहले स्वतंत्र छपी थी, वह भी इसमें जोड़ दी गयी है, ताकि 'भागवत-धर्म' पर विनोबाजी के पूरे विचार एक साथ मिलें। 'भागवत-धर्म-मीमांसा' 'भागवत-धर्म-सार' का सार है।

उसमें 'भागवत-धर्म-सार' के ३०६ श्लोकों में से केवल ९३ श्लोकों पर बाबा का चिंतन है। वह चिंतन प्रवचनों के माध्यम से सुलभ हो पाया। ये प्रवचन जमशेदपुर ( बिहार ) के निवास-काल में दिये गये, जो 'मैत्री' के वर्ष ३, ४, ५ के कई अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए हैं।

'भागवत-धर्म-सार' के ३१ प्रकरणों में से केवल १२ प्रकरणों पर प्रवचन दिये गये हैं। उन १२ प्रकरणों में से ६ प्रकरणों के तो पूरे-पूरे श्लोक लिये गये हैं और शेष ६ प्रकरणों से कुछ श्लोक चुने गये हैं। नीचे की तालिका से यह सारा स्पष्ट हो जायगा :

| प्रकरण | अध्याय | श्लोक-संख्या | योग |
|---|---|---|---|
| १. भागवत-धर्म | २ | १–६ | ६ |
| २. भक्त-लक्षण | ३ | १–९ | ९ |
| ३. माया-संतरण | ४ | १–९ | ९ |
| ४. बद्ध-मुक्त-मुमुक्षु साधक | ११ | १–१४ | १४ |

| प्रकरण | अध्याय | श्लोक-संख्या | योग |
|---|---|---|---|
| ५. वर्णाश्रम-सार | १७ | १–२ | २ |
| ६. ज्ञान-वैराग्य-भक्ति* | १९ | १–१४ | १४ |
| ७. वेद-तात्पर्य* | २१ | १–६ | ६ |
| ८. संसार-प्रवाह* | २२ | १–६ | ६ |
| ९. पारतन्त्र्य-मीमांसा* | २४ | १–४ | ४ |
| १०. पूजा* | २७ | १–१० | १० |
| ११. ब्रह्म-स्थिति* | २८ | १–१२ | १२ |
| १२. कृष्ण-चरित्र-स्मरण | ३१ | १० | १ |

ग्रन्थ का रस तो उसमें डूबने पर ही मिल सकता है। बाबा ने इस विवेचन में संस्कृत श्लोकों के एक-एक पद को लेकर उसका अर्थ बताते हुए विषय इतना सरल बना दिया है कि जन-साधारण 'निगम-कल्पतरु' से पककर टपके इस फल का आसानी से स्वाद चख सकते हैं।

ग्रंथ में आये हुए सभी श्लोकों के आरम्भिक पदों की अनुक्रमणिका से पाठकों के लिए स्वाध्याय करने में सुविधा हो गयी है।

आशा है, जनता इस नवनीत का पूरा लाभ उठायेगी।

●

---

* इन प्रकरणों के पूरे श्लोक लिये हैं।

# अ नु क्र म

## ( भागवत-धर्म-सार )



## ( भागवत-धर्म-मीमांसा )

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत-
श्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये
मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो
यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं
सत्यं परं धीमहि ॥ १ ॥

निगम-कल्पतरोर् गलितं फलं
शुकमुखादमृत-द्रव-संयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ २ ॥

# भागवत-धर्म-सार

## १. ईश्वर-प्रार्थना

१. ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिव-विरिंचि-नुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल! भवाब्धिपोतं
वंदे महापुरुष! ते चरणारविंदम्॥

२. नताः स्म ते नाथ! पदारविंदं
बुद्धींद्रिय-प्राण-मनो-वचोभिः।
यत् चिंत्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्
मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात्॥

३. त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुंपसि तद्गुणस्थः।
नैतैर् भवान् अजित! कर्मभिरज्यते वै
यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः

४. शुद्धिर् नृणां न तु तथेडच! दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः।
सत्त्वात्मनां ऋषभ! ते यशसि प्रवृद्ध-
सत्-श्रद्धया श्रवण-संभृतया यथा स्यात्॥

५. स्यान्नस् तवांघ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भिर्
व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय॥

# १. ईश्वर-प्रार्थना

१. हे शरणागत-रक्षक पुरुषोत्तम ! तुम्हारे चरण-कमलों की मैं वन्दना करता हूँ। जो सर्वदा ध्यान करने योग्य, अवनतिनाशक और अभीष्ट-दायक हैं। जो तीर्थों के स्थानरूप, ब्रह्मा, महेश आदि से स्तुत और शरण जाने योग्य हैं; भक्तों के दुःखों को हरण करनेवाले और भवसागर पार करने के लिए नौकारूप हैं।

२. हे नाथ ! तुम्हारे चरण-कमल को बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वाणी सहित हम लोग नमस्कार करते हैं। कर्मरूप सुदृढ़ पाशों से छुटकारा पाने के इच्छुक भक्तजन भक्तिभाव से अपने हृदय में जिसका चिन्तन करते हैं।

३. तू माया के ( रज आदि ) गुणों में स्थित होकर उस त्रिगुणमयी माया द्वारा स्व-स्वरूप में यह अचिन्त्य, नामरूपात्मक व्यक्त जगत् उत्पन्न करता है, उसका पालन करता और उसे नष्ट कर देता है। फिर भी हे अजेय परमेश्वर ! सचमुच तुझे इन कर्मों का लेप नहीं लगता। कारण तू निर्मल है और अखण्ड आत्मसुख में रँग गया है।

४. हे सात्त्विक-श्रेष्ठ, हे स्तवनीय ! तेरे यश के बार-बार श्रवण से बढ़ने-वाली सात्त्विक श्रद्धा से दूषित-हृदय मानवों की जैसी शुद्धि होगी, वैसी शुद्धि विद्या, वेदाध्ययन, दान, तप आदि कर्मों से नहीं होगी।

५. तेरे चरण हम लोगों की अशुभ वासनाओं को जलानेवाला अग्नि बनें। जो मुनिजन कल्याण के लिए प्रेमार्द्र चित्त से जो अपने हृदय से लगाते हैं, आत्मवान् वैष्णव भक्त स्वर्ग-सुख से परले पार की साम्ययोग-सिद्धि के लिए तीनों यज्ञ-कालों में वासुदेव आदि व्यूहों ( यानी स्वरूपों ) में जिनका पूजन करते हैं।

६. यश् चिंत्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश ! हविर् गृहीत्वा ।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥

७. पर्युष्टया तव विभो ! वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवत् श्रीः ।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन् नो
भूयात् सदांघ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥

८. केतुस् त्रिविक्रमयुतस् त्रिपतत्पताको
यस् ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन् !
पादः पुनातु भगवन् ! भजतां अघं नः ॥

९. नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस् तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस् तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥

१०. अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमानां
अव्यक्त-जीव-महतां अपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीर-रय उत्तमपूरुषस् त्वम् ॥

११. त्वत्तः पुमान् समधिगम्य यया स्ववीर्यं
धत्ते महांतमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥

६. हे परमेश्वर ! तीन वेदों द्वारा बतायी हुई विधि के अनुसार यज्ञाग्नि में शुद्ध हाथों आहुति देते समय याज्ञिक लाग जिन चरणों का चिन्तन करते हैं, उसी तरह अध्यात्मयोग से परमात्म-माया को जानने के इच्छुक परम भगवद्भक्त योगी सभी प्रकार से जिनका पूजन करते हैं, तेरे वे चरण हमारी अशुभ वासना भस्म करनेवाले अग्निरूप बनें ।

७. प्रभो ! भगवती लक्ष्मी आपके भक्तों ने आपको अर्पित की हुई म्लान ( मुरझायी ) वनमाला से सौत-सा मत्सर करती है । उस सूखी वनमाला से अपना यथासांग पूजन माननेवाले आपके चरण हमारी अशुभ वासनाओं को भस्म करने के लिए अग्नि-स्वरूप हों ।

८. हे विश्वव्यापक परमेश्वर ! तीन डगों में ही सारे त्रैलोक्य को व्याप्त करनेवाला तेरा चरण एक विजय-ध्वज ही है । उसे त्रिपथगा गंगा-रूपी पताका है । उसे देख असुरों की सेना भयभीत होती है, तो देवों को सेना निर्भय । सज्जनों को स्वर्ग और दुर्जनों को नरक देने-वाले तेरे वह चरण हम भक्तों के पापों को नष्ट कर हमें पवित्र करें ।

९. एक-दूसरे से पीड़ित होनेवाले ब्रह्मदेव आदि देहधारियों को नथे बैल की तरह जो वश में रखता है, उस प्रकृति-पुरुष से परे तुम कालस्वरूप पुरुषोत्तम के ये चरण हम लोगों का कल्याण करे ।

१०. वेद कहते हैं कि तू इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का हेतु तथा प्रकृति, पुरुष और महत्त्व का ( काल याने ) नियन्ता है । वह ( शीत, ग्रीष्म और वर्षारूप ) तीन नाभिवाला ( संवत्सर-चक्ररूप ) तथा अखिल-क्षयार्थ प्रवृत्त अति वेगवान् कालरूप पुरुषोत्तम तू है ।

११. यह पुरुष तुझसे स्ववीर्य पाकर अमोघ-वीर्य बनता है और फिर माया से संयुक्त होकर मानो महत्तत्त्वरूप गर्भ धारण करता है । फिर उस माया की सहायता से अपने में से बाहर से आवरणयुक्त सुवर्णवर्ण यानी तेजोमय ब्रह्माण्ड का निर्माण करता है ।

१२. तत् तस्थुषश्च जगतश्च भवान् अधीशो
यन्मायंयोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थान् जुषन्नपि हृषीक-पते ! न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ।।

१३. नमोऽस्तु ते महायोगिन् ! प्रपन्नं अनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणांभोजे रतिः स्यादनपायिनी ।।

## २. भागवत-धर्म

१. मन्येऽकुतश्चित् भयमच्युतस्य
पादांबुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेर् असदात्मभावात्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ।।

२. ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्म-लब्धये ।
अंजः पुंसां अविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ।।

३. यानास्थाय नरो राजन् ! न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।

४. कायेन वाचा मनसेंद्रियैर् वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत् ।।

५. भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्
ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययाऽतो बुध आभजेत् तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ।।

१२. हे ऋषीकेश ! सचमुच तू इस ( समस्त ) चराचर का स्वामी है। क्योंकि माया की गुण-विक्रिया से प्राप्त पदार्थों का उपभोग करने पर भी तुझे उसका लेप नहीं लगता। उलटे अन्य लोग स्वतः त्याग दिये हुए विषयों से भी डरते हैं।

१३. हे महायोगेश्वर ! तुझे नमस्कार है। मैं तेरी शरण आया हूँ। इसलिए मुझे ऐसा ज्ञान दे कि तेरे चरण-कमलों में मेरा अटल अखण्ड प्रेम रहे।

## २. भागवत-धर्म

१. मैं मानता हूँ कि इस संसार में अच्युत के चरण-कमलों को नित्य उपासना हर प्रकार के भय से मुक्त करनेवाली है। असत् वस्तुओं में आत्मभावना करने के कारण उद्विग्न लोगों का भय, उस उपासना से उनकी भावना विश्वात्मक बनकर, सर्वथा नष्ट हो जाता है।

२. अज्ञानी जीवों को सहज ही आत्म-प्राप्ति हो जाय, इसके लिए भगवान् ने जो उपाय बतलाये हैं, निश्चय ही वे भागवत-धर्म हैं।

३. राजन् ! इस भागवत-धर्म का अवलम्बन करने पर मानव कभी भी पथभ्रष्ट न होगा। अधिक क्या, इस मार्ग पर वह आँखें मूँदकर भी दौड़े, तो न ठोकर खायेगा और न गिरेगा ही।

४. मन, वचन, काया से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहंकार द्वारा या अभ्यस्त स्वभाव के कारण मानव जो-जो कर्म करता है, वे सब उस नारायण के लिए हैं—इस भावना से उसे समर्पण कर दें।

५. ईश्वर-विमुख को ईश्वर की माया के कारण विपरीत बुद्धि, विस्मृति, और फलस्वरूप द्वैतभाव उत्पन्न होकर भय होता है। इसलिए समझदार व्यक्ति गुरु में देवबुद्धि रखकर अनन्य भाव से ईश्वर की शरण जाय।

६. अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर् धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत् कर्म-संकल्प-विकल्पकं मनो
बुधो निरुध्यात् अभयं ततः स्यात्॥

७. शृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणेर्
जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेत् असंगः

८. अेवं-व्रतः स्व-प्रिय-नाम-कीर्त्या
जातानुरागो द्रुत-चित्तं उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवत् नृत्यति लोकबाह्यः॥

९. खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्
सरित्-समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्-किं-च भूतं प्रणमेदनन्यः

१०. भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिर्
अन्यत्र चैष त्रिक अेककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाऽश्नतः स्युस्
तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

११. इत्यच्युतांघ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर् विरक्तिर् भगवत्-प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्!
ततः परां शांतिमुपैति साक्षात्॥

६. मन में निरन्तर ध्यान करने के कारण जिस तरह मानव कल्पना से स्वप्न और मनोरथ उत्पन्न करता है, उसी तरह वास्तव में अविद्यमान वस्तु भी द्वैत कल्पना के कारण उसे भासती है। इसलिए समझदार पुरुष कर्मों का संकल्प-विकल्प करनेवाले मन का निरोध करे, तो वह निर्भय हो जाय।

७. इस लोक में उस चक्रपाणि ईश्वर की जो कुछ मंगलमय अवतार-लीलाएँ हुई हैं, उनकी कथाएँ सुनें और लज्जा त्यागकर उसके चरित्र का गुणगान करनेवाले नाम-गीत गाते हुए अनासक्त भाव से विचरण करें।

८. ऐसा व्रत लेनेवाले के हृदय में अपने प्रियतम प्रभु के नाम-संकीर्तन से प्रेम उत्पन्न होता है। उसका चित्त द्रवित हो उठता है और वह साधारण लोगों से निराला ही हो जाता है। वह मतवाला होकर कभी जोर से हँसता है, कभी रोता-चिल्लाता है, तो कभी नाचने-गाने लगता है।

९. (अधिक क्या कहें ?) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदियाँ, समुद्र आदि जो कुछ भूत-सृष्टि है, वह सब हरिरूप है, ऐसी भावना करके वह उन्हें अनन्य भाव से नमस्कार करेगा।

१०. भोजन करनेवाले को प्रत्येक कौर के साथ जिस प्रकार तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-शांति प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार शरणागत को भक्ति, परमेश्वर-साक्षात्कार और अन्य वस्तुओं से वैराग्य—ये तीनों एक साथ प्राप्त हो जाते हैं।

११. राजन् ! इस प्रकार अच्युत-चरणों की अखण्ड वृत्ति से सेवा करनेवाले भागवत को भक्ति, विरक्ति और भगवत्स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है और तत्पश्चात् उसे साक्षात् परम शान्ति प्राप्त होती है। ●

## ३. भक्त-लक्षण

१. सर्व-भूतेषु यः पश्येत् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

२. ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

३. अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

४. गृहीत्वाऽपींद्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति
विष्णोर् मायां इदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः

५. देहेंद्रिय-प्राण-मनो-धियां यो
जन्माप्यय-क्षुद्-भय-तर्ष-कृच्छ्रैः।
संसारधर्मैर् अविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर् भागवतप्रधानः॥

६. न काम-कर्म-बीजानां यस्य चेतसि संभवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥

७. न यस्य जन्म-कर्मभ्यां न वर्णाश्रम-जातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन् अहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥

८. न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥

९. त्रिभुवन-विभव-हेतवेऽप्यकुंठ-
स्मृतिरजितात्म-सुरादिभिर् विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविंदात्
लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः

## ३. भक्त-लक्षण

१. सब भूतों में परमेश्वरस्वरूप अपनी ही आत्मा को और परमेश्वर-स्वरूप अपनी आत्मा में सब भूतों को जो देखता है, वह 'भागवतोत्तम' ( उत्तम कोटि का भगवद्भक्त ) है।

२. जो भक्त ईश्वर में प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता, मूढ जनों पर कृपा और शत्रु की उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटि का भक्त है।

३. जो श्रद्धा से केवल भगवान् के विग्रह को पूजना चाहता है, लेकिन उनके भक्तों और दूसरे लोगों को जो श्रद्धा से पूजना नहीं चाहता, वह प्राकृत यानी कनिष्ठ भक्त है।

४. यह समस्त विश्व सर्वव्यापी ईश्वर की माया है, यह ज्ञान होने के कारण, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करते हुए भी जिसे हर्ष या विषाद नहीं होता, वह उत्तम भक्त है।

५. देह इन्द्रिय प्राण मन और बुद्धि के, जन्म मृत्यु क्षुधा भय तृषा के कारण दुःखदायी जो संसार-धर्म उनसे, हरि-स्मरण के कारण जो मोहग्रस्त नहीं होता, वह भागवतों में श्रेष्ठ है।

६. जिसके चित्त में काम, कर्म और इन दोनों का बीज अविद्या उत्पन्न नहीं होती और वासुदेव ही जिसके एकमात्र घर हैं, आश्रय हैं, वह उत्तम भागवत है।

७. जिसे जन्म-कर्म या वर्णाश्रम और जाति के कारण इस देह में अहंभाव नहीं चिपकता, सचमुच वही हरि का भक्त है।

८. जो धन-सम्पत्ति या शरीरादि में 'यह अपना है, यह पराया' ऐसा भेद नहीं करता, जो सब प्राणियों के साथ समभाव से व्यवहार करता और सर्वदा शान्त रहता है, सचमुच वह उत्तम भागवत है।

९. त्रिभुवन के वैभव के लिए भी जिसके हरि-स्मरण में व्यवधान नहीं पड़ता और भगवन्मय बने देवादिकों को भी शोध्य उन भगवान् के चरण-कमलों से जो आधा पल भी दूर नहीं होता, वह वैष्णवों में अग्रगण्य है।

१०. भगवत उरु-विक्रमांघ्रिशाखा-
नख-मणि-चंद्रिकया निरस्त-तापे ;
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चंद्र इवोदितेऽर्कतापः

११. विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्
हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघ-नाशः ।
प्रणय-रशनया धृतांघ्रि-पद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥

## ४. माया-तरण

१. कर्माण्यारभमाणानां दुःख-हत्यै सुखाय च ।
पश्येत् पाक-विपर्यासं मिथुनी-चारिणां नृणाम् ॥

२. नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्म-मृत्युना
गृहापत्याप्त-पशुभिः का प्रीतिः साधितैश् चलैः

३. अेवं लोकं परं विद्यात् नश्वरं कर्म निर्मितम् ।
सतुल्यातिशय-ध्वंसं यथा मंडल-वर्तिनाम् ॥

४. तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

१०. जैसे चन्द्रोदय होने पर सूर्य का ताप नष्ट हो जाता है, वैसे ही भगवान् के महापराक्रमी चरणों की उँगलियों के नखरूपी रत्नों की चन्द्रिका से भक्तों के हृदय का ताप मिट जाता है। फिर वह पुनः उत्पन्न कैसे होगा ?

११. अवश होकर नाम लेने पर भी पाप-प्रवाह का नाश करनेवाले साक्षात् हरि, प्रेम की डोरी से चरण-कमल बँध जाने के कारण, जिस भक्त के हृदय को नहीं छोड़ते, वह भागवतों में प्रमुख है, ऐसा कहते हैं।

## ४. माया-तरण

१. दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए विषयासक्त मनुष्य कार्य प्रारम्भ करते हैं। लेकिन ( उनके प्रयोजन का ) परिणाम उल्टा ही होता जाता है—यह बात ( मुमुक्षुओं को ) ध्यान में रखनी चाहिए।

२. नित्य पीड़ा देनेवाला दुर्लभ और जीव के लिए मृत्युरूप धन कमा लिया या घर-बार, बाल-बच्चे, सगे-सम्बन्धी, पशु आदि जुटा लिये जायँ, तो इन सबके क्षणभंगुर होने के कारण, उनसे क्या सुख मिलेगा ?

३. जिस प्रकार इस नश्वर पृथ्वी पर माण्डलिक राजाओं में बराबरीवालों से स्पर्धा, अधिक ऐश्वर्यवालों से मत्सर और ऐश्वर्य नष्ट होने का भय होता है, उसी प्रकार यज्ञादि कर्मों से प्राप्त होनेवाला स्वर्ग भी नश्वर है, ऐसा समझना चाहिए।

४. इसलिए अपना परम कल्याण जानने के इच्छुक पुरुष को शास्त्रों में पारंगत और परब्रह्म का साक्षात्कार किये हुए और शान्ति के मातृगृह, आश्रय सद्गुरु की शरण जाना चाहिए।

५. तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस् तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥

६. सर्वतो मनसोऽसंगं आदौ संगं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥

७. शौचं तपस् तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वंद्व-संज्ञयोः ॥

८. सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्त-चीर-वसनं संतोषं येन केनचित् ॥

९. श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिंदामन्यत्र चापि हि ।
मनो-वाक्-कर्म-दंडं च सत्यं शम-दमावपि ॥

१०. श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्म-कर्म-गुणानां च तदर्थेऽखिल-चेष्टितम् ॥

११. इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम् ॥

१२. एवं कृष्णात्म-नाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्-यशः ॥

१३. इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया
नारायणपरो मायां अंजस तरति दुस्तराम् ।

५. यहाँ 'एकमात्र गुरु ही आत्मदैवत है' ऐसा मानकर निष्कपट भाव से निरन्तर उनकी सेवा द्वारा ( आगे वर्णित ) भागवत-धर्म सीखने चाहिए। इससे आत्मस्वरूप प्राप्त करा देनेवाले आत्मा हरि प्रसन्न होंगे।

६. पहले सर्वत्र मन की अनासक्ति, फिर भगवद्भक्तों से आसक्ति यानी प्रेम और प्राणियों पर यथायोग्य अच्छी तरह दयाभाव, मैत्री और विनय,

७. शुचिता, तप, सहनशीलता, मितभाषण ( फालतू न बोलना ), स्वाध्याय, ऋजुता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में समता,

८. 'सर्वत्र आत्मा है और वही ईश्वर है' ऐसा चिन्तन करना, 'केवल एक तत्त्व है और वह मैं हूँ' ऐसी भावना, सीमित कर देनेवाला घर कहीं न होना ( अनिकेतता ), वन्य-वस्त्र याने वल्कल पहनना और जो मिले, उसमें सन्तोष मानना,

९. भागवत-शास्त्र में श्रद्धा, अन्य शास्त्रों के प्रति आदर, मन, वाणी और कर्म का नियमन, सत्य, शम और दम,

१०. अद्‌भुत कर्म करनेवाले भगवान् के जन्म-कर्म और गुण यानी लीलाओं का श्रवण, कीर्तन तथा ध्यान करना तथा सारे कर्म उसी-के लिए करना,

११. यज्ञ, दान, तप, जप, सदाचरण तथा जो कुछ अपने को प्रिय लगता हो, जैसे पत्नी, पुत्र, घर, प्राण आदि सबका सब परमेश्वर को अर्पण करना,

१२. इसी तरह श्रीकृष्ण को जो अपना नाथ मानते हैं, उन भगवद्-भक्तों से मैत्री, स्थावर-जंगम दोनों प्रकार के प्राणियों की, विशेषतः मनुष्यों की और उनमें भी महापुरुषों की, उनमें भी साधु-सन्तों की सेवा और भगवान् की पावन कीर्ति की आपस में चर्चा,

१३. इन भागवत-धर्मों को सीखकर उनसे प्राप्त भक्ति द्वारा जो भगवान् में निष्ठा रखेगा, वह दुस्तर माया-नदी को सहज ही तर जायगा।

## ५. ब्रह्म-स्वरूप

१. स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ।
देहेंद्रियासु-हृदयानि चरन्ति येन
संजीवितानि तदवेहि परं नरेंद्र ! ॥

२. नैतन्मनो विशति वाग् उत चक्षुरात्मा
प्राणेंद्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्म-मूलं
अर्थोक्तमाह यदृते न निषेध-सिद्धिः ॥

३. सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महान् अहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञान-क्रियार्थ-फल-रूपतयोरु-शक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥

४. नात्मा जजान, न मरिष्यति, नैधतेऽसौ
न क्षीयते, सवनविद् व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धि-मात्रं
प्राणो यथेंद्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥

## ५. ब्रह्म-स्वरूप

१. राजन् ! जो इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है और नहीं भी है; जो स्वप्न, जाग्रति और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में है और उनसे बाहर भी है; जिसके आधार पर देह, इन्द्रियाँ, प्राण और हृदय चैतन्ययुक्त होकर अपने-अपने व्यापार करते हैं, उसे परमतत्त्व जानो ।

२. जिस तरह अग्नि की ज्वालाएँ अग्नि को जला या प्रकाशित नहीं कर सकतीं, उसी तरह उस परम तत्त्व तक न मन की गति है और न वाणी की ही । नेत्र उसे देख नहीं सकते, बुद्धि उनका विचार नहीं कर सकती । प्राण और इन्द्रियाँ उसके पास भी नहीं पहुँच पाते । श्रुतियाँ भी वह आत्मतत्त्व 'अमुक है' इस प्रकार वर्णन नहीं कर पातीं, इसीलिए 'नेति नेति' कहकर निषेधरूप से ही उसका वर्णन करती हैं । इस निषेध की सिद्धि के लिए भी कुछ भावात्मक वस्तु आवश्यक है और वही ब्रह्म है ।

३. आरम्भ में एकमात्र ब्रह्म था । उसीको सत्त्व, रज और तम इस तरह त्रिगुणात्मक प्रधान याने 'प्रकृति' कहते हैं । उसीको सूत्र, महान् और अहंरूपी जीव भी कहते हैं । वह अत्यन्त शक्तिमान् ब्रह्म ही ज्ञान, क्रिया, अर्थ और फल इन विभिन्न रूपों में प्रकाशित होता है । वह सत् और असत् से परे है ।

४. ब्रह्मरूप आत्मा न तो कभी जनमा और न कभी मरेगा ही । वह न कभी बढ़ता है और न घटता है । जो कुछ परिवर्तनशील है, सबके परिवर्तन का वह साक्षी है । वह सर्वत्र, शाश्वत—अजर-अमर—और केवल ज्ञानस्वरूप है । जिस तरह प्राणि-शरीर में स्थित प्राण के एक होने पर भी इंद्रिय-भेद से अनेक नाम-रूप होते हैं, उसी तरह एक ही ब्रह्म की ( इंद्रियों द्वारा ) अनेक प्रकारों से कल्पना की जाती है ।

५. अंडेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिंद्रिय-गणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर् नः ॥

६. यर्ह्यब्ज-नाभ-चरणैषणयोरु-भक्त्या
चेतो-मलानि विधमेद् गुण-कर्मजानि ।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथाऽमल-दृशोः सवितृ-प्रकाशः ॥

## ६. आत्मोद्धार

१. प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्व-विचक्षणाः ।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानं आत्मनैवाशुभाशयात् ॥

२. आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसौ अनुविन्दते ॥

३. पर-स्वभाव-कर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वं एकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥

४. पर-स्वभाव-कर्माणि यः प्रशंसति निंदति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थात् असत्यभिनिवेशतः ॥

५. श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनांध-धियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥

५. अण्डों में, पेशियों में, वृक्षों में और अनिश्चित योनियों के इन सभी जीव-शरीरों में प्राणशक्ति जीव के पीछे-पीछे जाती ही रहती है। जीव की इन्द्रियाँ लीन हो गयी हों, अहं गाढ़ निद्रा में सो रहा हो और कूटस्थ भी अपने मूल स्वरूप में लीन हो जाय; फिर भी हमें उसका अनुस्मरण होता ही रहता है।

६. जिस तरह स्वच्छ नेत्रोंवाले मनुष्य को सूर्यप्रकाश स्पष्ट दीख पड़ता है, उसी तरह हरिचरण-वासनारूप महान् भक्ति से चित्त के गुण-कर्मजन्य मल साफ कर देना चाहिए। तो उस शुद्ध हृदय में आत्म-स्वरूप साक्षात् प्रकट होगा। •

## ६. आत्मोद्धार

१. विश्वतत्त्व का परीक्षण करने में कुशल लोग साधारणतः स्वयं के यत्न से ही ( अमंगल विषयों की ) मलिन वासनाओं से अपना उद्धार कर लेते हैं।

२. विशेष बात यह है कि मनुष्य का गुरु उसकी आत्मा ही है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से वह अपना कल्याण कर लेता है।

३. क्या प्रकृति की दृष्टि से और क्या आत्मा की दृष्टि से विश्व एकात्मक है—यह जानकर मानव का कर्तव्य है कि वह दूसरे के स्वभाव या कर्म की स्तुति या निन्दा न करे।

४. जो पुरुष दूसरों के स्वभाव या कर्म की प्रशंसा या निन्दा करता है, वह मिथ्या वस्तु के अभिमान के कारण अपने वास्तविक स्वार्थ ( यानी आत्मार्थ ) से शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है।

५. सम्पत्ति, ऐश्वर्य, कुलीनता, विद्या, त्याग, रूप, बल और कर्म से गर्वित हो जिनकी बुद्धि अंधी हो गयी है, वे दुष्ट लोग भगवान् के प्रेमी भक्तों का और ( स्वयं ) ईश्वर का भी अपमान करते हैं।

६. क्षुत्-तृट्-त्रिकालगुण-मारुत-जैह्व्य-शैश्न्यान्
अस्मान् अपारजलधीन् अतितीर्य केचित् ।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं, पदे गोर्
मज्जन्ति, दुश्चर-तपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥

७. इंद्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥

८. तावत् जितेंद्रियो न स्यात् विजितान्येंद्रियः पुमान् ।
न जयेद् रसनं यावत् जितं सर्व जिते रसे ॥

९. कृतादिषु प्रजा राजन्! कलौ इच्छन्ति संभवम् ।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण-परायणाः ॥

## ७. गुरुबोध ( १ ) सृष्टि-गुरु

१. भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।
तद् विद्वान् न चलेन्मार्गात् अन्वशिक्षं क्षितेर् व्रतम् ॥

२. शश्वत् परार्थ-सर्वेहः परार्थैकान्त-सम्भवः ।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥

३. स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस् तीर्थभूर् नृणाम् ।
मुनिः पुनात्यपां मित्रं ईक्षोपस्पर्श-कीर्तनैः ॥

६. भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी, बरसात, हवा, आँधी-पानी, जिह्वा-सुख और रति-सुख जैसे दुस्तर समुद्रों को लाँघकर भी जो व्यर्थ ही क्रोध के अधीन होते हैं, वे मानो गाय के खुर से बनी क्षुद्र गड़ही में डूबते हैं और उनकी कठिन तपस्या व्यर्थ हो जाती है।

७. विवेकी पुरुष यदि आहार रोक दे, तो रसनेन्द्रिय (जिह्वा) को छोड़ अन्य इन्द्रियों पर शीघ्र ही विजय पा सकते हैं। किन्तु रसनेन्द्रिय तो आहार त्यागने पर और भी अधिक बलवान् होती है।

८. जब तक रसनेन्द्रिय जीती नहीं जाती, तब तक अन्य इन्द्रियों को जीतने पर भी मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं होता। रसना के जीतने से ही सारी इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं।

९. महाराज! कृत आदि युग के लोग कलियुग में जन्म लेना चाहते हैं, क्योंकि कलियुग में लोग सचमुच नारायण-परायण होनेवाले हैं। ●

## ७. गुरुबोध (१) सृष्टि-गुरु

१. दैव अर्थात् सृष्टि के ज्ञात और अज्ञात कार्य-कारण आदि नियमों के अधीन भूतों से पछाड़ खाकर पीड़ित होने पर भी धैर्यशाली विद्वान् पुरुष उनकी दैवाधीनता जान अपने निश्चित मार्ग से कभी विचलित न हो—यह मैंने पृथ्वी से (क्षमाव्रत) सीखा।

२. सदा-सर्वदा दूसरों के सर्वथा हितेच्छु और जिनका जन्म ही एकमात्र परहितार्थ है, उन पर्वत एवं वृक्षों का शिष्य बनकर साधु पुरुष को चाहिए कि उनसे 'परात्मता' यानी दूसरों के लिए ही अपना जन्म है, यह शिक्षा ग्रहण करे।

३. पानी स्वभावतः स्वच्छ, स्निग्ध, मधुर और लोगों के लिए तीर्थ की तरह पवित्र होता है। इसी तरह हम भी निर्मल, स्वभावतः स्नेह-शील, मधुरभाषी और शुद्ध रहें—ऐसा समझनेवाला मुनि अपने दर्शन, स्पर्शन और भाषण से लोगों को पवित्र करता है।

४. मुनिः प्रसन्न-गंभीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः ।
अनंतपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥

५. समृद्ध-कामो हीनो वा नारायण-परो मुनिः ।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥

६. तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥

७. विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।
कलानामिव चंद्रस्य कालेनाव्यक्त-वर्त्मना ॥

८. गुणैर् गुणान् उपादत्ते यथाकालं विमुंचति ।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर् गा इव गोपतिः ॥

९. विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥

१०. प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येत् मुनिर् नैवेंद्रिय-प्रियैः ।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ् मनः ॥

११. अंतर्हितश्च स्थिरजंगमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।
व्याप्त्याव्यवच्छेदं असंगमात्मनो
मुनिर् नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥

४. समुद्र की तरह मुनि को प्रसन्न, गम्भीर, अथाह, अनाक्रमणीय, अपार और अक्षुब्ध और जिसमें चढ़ाव-उतार नहीं होता, ऐसा होना चाहिए।

५. नदियाँ अपने में आ मिलने से समुद्र को न बाढ़ आती है और उनके न मिलने से न वह सूख जाता है। इसी तरह नारायण-पर यानी ईश्वर-भक्त मुनि भी इच्छाएँ तृप्त होने पर न हर्षित हो और न उनके अतृप्त रहने पर खिन्न रहे।

६. आत्म-परायण मुनि को चाहिए कि अग्नि की तरह तेजस्वी, तपस्या से देदीप्यमान, अनाक्रमणीय, उदर जितना ही भोजन-पात्रवाला यानी असंग्रही रहकर जो कुछ मिले, उसीका सेवन कर निर्मल रहे।

७. जिस तरह चन्द्रमा की कलाएँ घटती-बढ़ती हैं, चन्द्र नहीं; उसी तरह जिनकी गति समझ से परे है, ऐसे अव्यक्त गति काल के प्रभाव से होनेवाली जन्म-मरण आदि अवस्थाएँ देह की हैं, आत्मा की नहीं ( यह चन्द्र से शिक्षा है )।

८. जिस तरह सूर्य अपनी किरणों से पानी सोख लेता है और यथा-समय उसे पुनः बरसा भी देता है, उसी तरह योगी भी इंद्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करता और यथासमय त्याग भी देता है; लेकिन उनमें कभी आसक्त नहीं होता।

९. सुख, दुःख आदि नाना धर्मवाले विषयों के बीच बरतनेवाला योगी वायु की तरह उनके गुण-दोषों से सर्वथा अलिप्त रहे।

१०. जितनेभर से ज्ञान नष्ट न हो और मन तथा वाणी की शक्ति क्षीण न हो, मुनि उतनी ही प्राण-धारण-वृत्ति ( आहार आदि ) से सन्तोष माने। इन्द्रियों के चोचले न करे।

११. ब्रह्मात्मभावरूप समन्वयसूत्र से सर्व चराचर वस्तुओं में भरा रहने-वाला मुनि ( अपने ) व्यापक आत्मा की व्याप्ति से निःसीम और निर्लिप्त ऐसे आकाशवत् स्वरूप की भावना करे। ●

## ८. गुरुबोध ( २ ) प्राणि-गुरु

१. नाति-स्नेहः प्रसंगो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन् विन्देत संतापं कपोत इव दीन-धीः ॥

२. सामिषं कुररं जघ्नुर् बलिनो ये निरामिषाः ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥

३. ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥

४. गृहारंभो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः पर-कृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥

५. ग्राम्य-गीतं न शृणुयाद् यतिर् वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर् गीत-मोहितात् ॥

६. जिह्वयाऽति-प्रमाथिन्या जनो रस-विमोहितः ।
मृत्युमृच्छत्यसद्-बुद्धिर् मीनस्तु बडिशैर् यथा ॥

७. स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता ।
गृहान् अहिंसन् आतिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥

८. अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्-पदः ॥

# ८. गुरुबोध ( २ ) प्राणि-गुरु

१. मनुष्य कभी किसीके साथ अति स्नेह या अधिक सम्पर्क न करे। मन्दमति मानव यदि ऐसा करेगा, तो कबूतर की तरह वह सन्ताप और दुःख उठायेगा।

२. किसी एक कुरर पक्षी को मांस का एक टुकड़ा मिल गया। दूसरे बलवान् पक्षियों के पास उस समय खाने को नहीं था। इसलिए ( उसके पास से वह मांस-खण्ड छीन लेने के लिए ) वे उसे मारने लगे। अतः उस कुरर पक्षी ने मांस का वह टुकड़ा फेंक दिया। तब वह ( परेशानी से बचा और ) सुखी हो गया।

३. अनायास जो कुछ मिल जाय, फिर वह मधुर हो या नीरस, अधिक हो या कम, बुद्धिमान् पुरुष उतना ही खाकर अजगर के समान जीवन-निर्वाह करे, विचेष्टाएँ, दौड़-धूप न करे।

४. नश्वर देह के लिए घर बनाने की झंझट में पड़ना अत्यन्त कष्टकर और निष्फल है। साँप दूसरे के बनाये घर में घुसकर सुख से रहता है।

५. वनवासी यति कभी भी ग्राम्य-गीत ( विषय-सम्बन्धी गीत ) न सुने। वह व्याध के गीत से मोहित हो जाल में फँसे हिरन से यह शिक्षा ग्रहण करे।

६. बंसी में लगे मांस के लोभ से उसमें फँसकर जैसे मछली अपने प्राण गँवा बैठती है, वैसे ही अनियंत्रित जीभ के कारण रस-लोलुप हो मूर्ख मानव भी मृत्यु को प्राप्त करता है।

७. यति को चाहिए कि भ्रमर की वृत्ति का अनुसरण कर किसी भी गृहस्थ को कष्ट न देते हुए अपने शरीर-धारण मात्र के लिए आवश्यक थोड़े-थोड़े अन्न की भिक्षा माँग उदर-निर्वाह करे।

८. जिस तरह भ्रमर फूलों से केवल मधु ही ग्रहण करता है, उसी तरह चतुर मनुष्य भी छोटे-बड़े शास्त्रों से, सब जगह से सार ग्रहण करे।

९. न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर् यद् दुःख-संचितम्।
भुंक्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥

१०. यथोर्णनाभिर् हृदयात् ऊर्णां संतत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस् तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥

११. यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥

१२. कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन्! पूर्वरूपं असंत्यजन् ॥

## ९. गुरुबोध ( ३ ) मानव-गुरु

१. आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कांताशां सुखं सुष्वाप पिंगला ॥

२. न मे मानावमानौ स्तो न चिंता गेह-पुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिर् विचरामीह बालवत् ॥

९. जिस प्रकार मधुमक्खियों द्वारा संचित मधु ( शहद ) मधु निकालनेवाला चतुर मनुष्य बटोर ले जाता है, उसी प्रकार बड़े कष्ट से लोभी द्वारा संगृहीत धन—जिसे वह न तो किसीको दे पाता है और न स्वयं ही भोग पाता है—दूसरा ही कोई हर ले जाता है।

१०. जिस तरह मकड़ी अपने हृदय से निकले ऊन ( तन्तु ) को मुँह द्वारा फैलाकर उसका जाल बुनती है और कुछ देर उसीमें विहार ( खेल ) कर पुनः उसे निगल जाती है, इसी तरह परमेश्वर भी करता है। ( परमेश्वर सृष्टि उत्पन्न करता है, कुछ समय तक उसमें विहार कर पुनः उसे स्व-स्वरूप में लीन कर लेता है। ईश्वर किस तरह काम करता है, इसकी शिक्षा मकड़ी से मिलती है। )

११. देहधारी जीव प्रेम, द्वेष या भय से जिस-जिस वस्तु में बुद्धिपूर्वक अपना मन एकाग्र करता है, उन-उन पदार्थों से वह एकरूप हो जाता है।

१२. राजन् ! भृंगी द्वारा अपने घोंसले में बलात् लाया हुआ कीट ( भय से ) उस भृंगी का ही ध्यान करता है। फलस्वरूप इसी देह में उसकी देह बदलकर उसे भृंगी का रूप प्राप्त हो जाता है।

## ९. गुरुबोध ( ३ ) मानव-गुरु

१. आशा ( यानी वासना ) से अत्यन्त दुःख होता है। नैराश्य ( यानी वासना-त्याग ) से परम सुख मिलता है। प्रियकर के मिलन की आशा त्याग देने से पिंगला ( वेश्या ) सुख की नींद सो सकी।

२. मुझे ( किसी तरह का ) मान-अपमान नहीं। घर-बार और पुत्र-परिवारवालों को जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं छोटे बालक की तरह आत्मा में रँगकर आत्मा में ही क्रीड़ा करता घूमता रहता हूँ।

३. वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।
अेक अेव चरेत् तस्मात् कुमार्या इव कंकणः ॥

४. तदैवमात्मन्यवरुद्ध-चित्तो
न वेद किंचिद् बहिरंतरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तं
इषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥

५. देहो गुरुर् मम विरक्ति-विवेक-हेतुर्
बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसंगः ॥

६. सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्म-शक्त्या
वृक्षान् सरीसृप-पशून् खग-दंश-मत्स्यान्।
तैस् तैर् अतुष्ट-हृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥

७. लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसंभवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावत्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

३. बहुत-से लोग एक साथ जुटने पर झगड़ा हो जाता है। दो हों, तो भी कहासुनी, वाद-विवाद होता है, इसलिए (आवाज न हो, इसलिए जिस प्रकार उस) कुमारी ने हर कलाई में एक-एक ही कंकण रखा, उसी प्रकार अकेले ही विचरना चाहिए।

४. तीर बनाने में तल्लीन कारीगर को अपने पास से ही गुजरती राजा की सवारी नहीं दिखायी पड़ी। इसी तरह आत्मस्वरूप में लीन योगी को बाहरी या भीतरी किसी भी पदार्थ का भान नहीं होता।

५. सर्वदा परिणाम में दुःखद और जन्म-मरणशील यह देह मेरा गुरु है। वह मुझे विवेक-वैराग्य की शिक्षा देती है। कारण उसीके सहारे मैं तत्त्व-विचार कर पाता हूँ। फिर भी वह देह (मेरे अपने लिए नहीं,) दूसरों के लिए है, यह समझकर मैं मुक्तसंग हो विचरता रहता हूँ।

६. अपनी मायारूप अनादि आत्म-शक्ति से वृक्ष, रेंगनेवाले प्राणी, पशु, पक्षी, मच्छर, मछली आदि अनेक प्रकार के जीवों के अनेक शरीर रचे, फिर भी ईश्वर को उनसे सन्तोष नहीं हुआ। फिर उसने ब्रह्म-साक्षात्कार करने में समर्थ बुद्धिवाले मानव की सृष्टि की, तब उसे सन्तोष हुआ।

७. अनेक जन्मों के बाद यह अति दुर्लभ, और अनित्य होने पर भी मोक्ष दिलाने में समर्थ मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है। तो बुद्धिमान् पुरुष का कर्तव्य है कि मृत्यु के शिकंजे में पड़ने से पूर्व ही शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति का यत्न करे। (नश्वर) विषयों का भोग तो सभी योनियों में मिलता ही है।

## १०. आत्म-विद्या

१. मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारं अकामात्मा समाचरेत् ॥

२. अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्व-ध्यानेन सर्वारंभ-विपर्ययम् ॥

३. निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस् त्यजेत् ।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ॥

४. यमान् अभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शांतं उपासीत मदात्मकम् ॥

५. अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुर् अनसूयुर् अमोघवाक् ॥

६. जायापत्य-गृह-क्षेत्र-स्वजन-द्रविणादिषु ।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥

७. विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।
यथाग्निर् दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥

८. योऽसौ गुणैर् विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस् तन्निबंधोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः ॥

९. तस्मात् जिज्ञासयाऽऽत्मानं आत्मस्थं केवलं परम् ।
संगम्य निरसेदेतद्-वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥

# १०. आत्म-विद्या

१. मेरे द्वारा बताये हुए स्वधर्म में सावधानी से रहकर, मेरा आश्रय लेकर, निष्काम भाव से अपने वर्णाश्रमकुलाचार का अनुष्ठान करे।

२. निर्मल बुद्धि के मनुष्य को सावधानी के साथ यह देखना चाहिए कि गुण ( यानी इन्द्रियों के विषयों ) को सत्य समझने से विषय-लोलुप मानव के सभी प्रयत्नों का फल उल्टा ही हुआ करता है।

३. मत्परायण होकर निवृत्त कर्म करे और प्रवृत्त कर्म त्याग दे। ब्रह्मविद्या के लिए जिज्ञासा रखकर श्रुत्युक्त कर्म की प्रेरणा का भी आदर न करे।

४. मेरा भक्त अहिंसा आदि यमों का निरन्तर आचरण करे, नियमों का भी यथाशक्ति पालन करे और मुझे जाननेवाले शान्त सद्गुरु की मद्रूप भावना से उपासना करे।

५. साधक को निरभिमानी, निर्मत्सर, दक्ष, ममताशून्य, स्नेह में दृढ़, जल्दबाजी न करनेवाला, तत्त्व-जिज्ञासु, असूयारहित और सत्य-वादी होना चाहिए।

६. स्त्री-पुत्र, घर-बार, खेती-बारी, स्वजन-सम्पत्ति आदि से उदासीन (यानी अनासक्त) रहें। और आत्मौपम्य बुद्धि से सबके लिए सम-दृष्टि रखें।

७. जिस तरह जलने वाले काष्ठ आदि से उन्हें जलानेवाला और प्रकाश देनेवाला अग्नि भिन्न होता है, उसी तरह स्थूल और सूक्ष्म देहों से आत्मा पृथक् है। वह द्रष्टा और स्वयं-ज्ञानं-प्रकाशरूप है।

८. यह जो त्रिगुणों से बनी मनुष्य-देह है, उस देह से सम्बन्ध होने के कारण ही चैतन्यमय पुरुष के पीछे संसार लगा है, ऐसा जानें।

९. इसलिए तत्वजिज्ञासा से अपने में ही स्थित केवल परमात्मा को प्राप्त कर इस देह के सम्बन्ध की वस्तु-बुद्धि क्रमशः मिटायें।

१०. आचार्योऽरणिराद्यः स्यात् अंतेवास्युत्तरारणिः ।
तत्संधानं प्रवचनं विद्यासंधिः सुखावहः ॥

११. वैशारदी साऽतिविशुद्ध-बुद्धिर्
धुनोति मायां गुण-सम्प्रसूताम् ।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्मनेतत्
स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः ॥

## ११. बद्ध-मुक्त-मुमुक्षु-साधक

१. बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वात् न मे मोक्षो न बंधनम् ॥

२. शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च मायया ।
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर् न तु वास्तवी ॥

३. विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव ! शरीरिणाम् ।
मोक्षबंधकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥

४. अेकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ! ।
बंधोऽस्याविद्ययानादिर् विद्यया च तथेतरः ॥

५. देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः ।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा ॥

१०. ( विद्यारूप अग्नि उत्पन्न करने के लिए ) आचार्य और शिष्य ऊपर-नीचे की अरणियों ( यज्ञ में अग्नि पैदा करने के लिए काम में लाये जानेवाले दो काष्ठखण्ड ) जैसे हैं। गुरु का प्रवचन ( इन दो अरणियों को मिलानेवाला ) संधान है। उस संधान से निर्माण होनेवाली सुखावह संधि या अग्नि है विद्या।

११. उस पारंगत, ज्ञानी शिष्य की वह अति विशुद्ध बुद्धि त्रिगुण से उत्पन्न माया को झटकार डालती है और जिस तरह समिधाओं को जलाकर आग अपने-आप शान्त हो जाती है, उसी तरह जिन त्रिगुणों से यह दृश्य भासित होता है, उन्हें जलाकर वह विद्या स्वयं शान्त हो जाती है।

## ११. बद्धमुक्त मुमुक्षु-साधक

१. 'बद्ध-मुक्त' यह भाषा गुणों के कारण है। मुझे वह वस्तुतः लागू नहीं। गुण मायामूलक होने से न मुझे मोक्ष है और न बंधन ही।

२. शोक-मोह, सुख-दुःख और देह की उत्पत्ति, ये माया के कारण भासते हैं। जैसे स्वप्न वैसे ही यह संसृति यानी अपनी केवल कल्पना है, वास्तविक नहीं।

३. उद्धव ! मेरी माया से निर्मित विद्या और अविद्या मेरे दो अनादि रूप हैं। वे देहधारियों को क्रमशः मोक्ष और बंध देनेवाली हैं, यह जानो।

४. बुद्धिमान् उद्धव ! मेरे ही एक अंशमात्र जीव को ही अविद्या के कारण अनादि बंध होता है और विद्या से मोक्ष मिलता है।

५. बाह्य दृष्टि से देह में स्थित रहकर भी विद्वान् मनुष्य देहस्थ नहीं होता, जैसे स्वप्न से जगा हुआ। उलटे दुर्बुद्धि वस्तुतः देहस्थ न होते हुए भी देहस्थ रहता है, जैसे स्वप्नद्रष्टा।

६. इंद्रियैरिंद्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च ।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यात् न विद्वान् यस्त्वविक्रियः ॥

७. दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा ।
वर्तमानोऽबुधस् तत्र कर्तास्मीति निबध्यते ॥

८. एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने ।
दर्शन-स्पर्शन-घ्राण-भोजन-श्रवणादिषु ॥

९. न तथा बध्यते विद्वान् तत्र तत्रादयन् गुणान् ।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ॥

१०. वैशारद्येक्षयाऽसंग-शितया छिन्न-संशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नात् नानात्वाद् विनिवर्तते ॥

११. यस्य स्युर् वीतसंकल्पाः प्राणेंद्रिय-मनो-धियास् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥

१२. यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर् येन किंचिद् यदृच्छया ।
अर्च्यते वा क्वचित् तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥

१३. न स्तुवीत न निंदेत कुर्वतः साध्वसाधु वा
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः ॥

१४. न कुर्यान्न वदेत् किंचित् न ध्यायेत् साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥

१५. एवं जिज्ञासयाऽपोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥

१६. यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥

६. इन्द्रियों द्वारा विषयों का और गुणों द्वारा गुणों का ग्रहण किया जाता है। तब ज्ञाता पुरुष निर्विकार रहकर उनके विषय में अहंकार रखता नहीं।

७. दैवाधीन इस देह में रहनेवाला अज्ञानी जीव इन्द्रियों द्वारा कर्म होते हैं तब 'मैं ही वह कर्म करनेवाला हूँ' ऐसा मानकर बद्ध हो जाता है।

८. इस तरह सोना, बैठना, घूमना, स्नान करना, देखना, स्पर्श करना, गंध सूँघना, खाना, सुनना आदि व्यापारों से विरक्त—

९. —ज्ञानी पुरुष, प्रकृति में स्थित होकर भी और उन-उन इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण करते हुए भी अज्ञानी पुरुष की तरह बद्ध नहीं होता; वह आकाश, सूर्य और वायु की तरह अलिप्त रहता है।

१०. असंग ने तीक्ष्ण की हुई उसकी निर्मल दृष्टि के कारण उसके सारे सन्देह मिट जाते हैं। स्वप्न से जगे पुरुष की तरह नानात्व से वह निवृत्त हो जाता है।

११. जिस पुरुष के प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इनकी सभी वृत्तियाँ संकल्प-रहित होती हैं, वह देहस्थ होकर भी देह के गुणों से मुक्त रहता है।

१२. उस तत्त्वज्ञ पुरुष के शरीर को कोई हिंसक पीड़ा दें या स्वेच्छा से कोई उसकी पूजा करें, उसके चित्त में किसी तरह का विकार उत्पन्न नहीं होता।

१३. गुणदोषों से अतीत हुआ मुनि सर्वत्र समदर्शी होता है। इसलिए कोई भला-बुरा करे या बोले, तो भी वह किसीकी निन्दा या स्तुति नहीं करता।

१४. वह मुनि कोई भला-बुरा कम नहीं करेगा या नहीं बोलेगा या नहीं सोचेगा। इस प्रकार की वृत्ति से वह आत्मानन्द में मग्न रहकर और जड़वत् बरताव करेगा।

१५. इस प्रकार जिज्ञासा से आत्मस्वरूप पर जमे नानात्व के भ्रम को नष्ट कर सर्वव्यापी मुझ परमात्मा में शुद्ध चित्त समर्पित कर निवृत्त हो जाय।

१६. यदि ब्रह्म में मन स्थिर न कर सको, तो मुझ परमेश्वर को उद्देश्य कर सभी कर्म भलीभाँति निरपेक्ष होकर करो।

१७. मदर्थे धर्मकामार्थान् आचरन् मदपाश्रयः ।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव ! सनातने ॥

१८. कृपालुरकृतद्रोहस् तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥

१९. कामैरहतधीर् दांतो मृदुः शुचिरकिंचनः ।
अनीहो मितभुक् शांतः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥

२०. अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जित-षड्-गुणः ।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥

२१. आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः ॥

२२. ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्य-भावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥

१७. हे उद्धव ! मेरा आश्रय लेकर, मेरे लिए ही धर्म, अर्थ, काम का आचरण करनेवाले को मुझ सनातन में उसे निश्चल भक्ति प्राप्त होती है।

१८. मेरा भक्त कृपालु होता है। वह किसीका भी द्रोह नहीं करता, सहनशील होता है; सत्य ही उसके जीवन का सार होता है। वह निर्दोष, समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है।

१९. उसकी बुद्धि कामनाओं से हत नहीं होती। वह इंद्रियनिग्रही, मृदु और पवित्र होता है। वह संग्रह नहीं करता; इच्छारहित, मिताहारी, शान्त होता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है और वह भगवच्छरण और मननशील रहता है।

२०. उसके हाथों प्रमाद नहीं होता। वह गंभीर स्वभाव और धैर्यशाली होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु ये छह संसारधर्म वह जीत लेता है। खुद निरभिमानी, दूसरों को मान देनेवाला, कल्पक, मित्रता का व्यवहार करनेवाला, करुणावान्, क्रांतदर्शी होता है।

२१. इस तरह गुण-दोष परखकर, और मेरे बताये सारे धर्मों का भी त्याग करके जो मुझे भजता है वह उत्तम सन्त है।

२२. मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, कैसा हूँ—यह ठीक से जानकर जो मुझे अनन्यभाव से भजते हैं, मैं मानता हूँ कि वे मेरे सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं।

## १२. वृक्षच्छेद

१. स अेष जीवो विवर-प्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः
मनो-मयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥

२. यथानलः खेऽनिलबंधुरूष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥

३. अेवं गदिः कर्म गतिर् विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च ।
संकल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजः-सत्त्व-तमो-विकारः ॥

४. अयं हि जीवस् त्रिवृदब्जयोनिर्
अव्यक्त अेको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्ट-शक्तिर् बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥

५. यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तंतु-वितान-संस्थः ।
य अेष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥

# १२. वृक्षच्छेद

१. यही वह जीव ( 'जीवनतत्त्व, परमात्मा' ) प्राण और घोषरूप से हृदयरूप गुफा में प्रवेश करता है। फिर मनोमय सूक्ष्मरूप धारण कर मात्रा, स्वर और वर्णरूप से अत्यन्त स्थूल हो जाता है।

२. जिस तरह अग्नि आकाश में केवल ऊष्मा के अव्यक्त रूप में रहती है, लकड़ी पर लकड़ी जोर से घिसने पर वही वायु की सहायता पाकर चिनगारी का रूप धारण करती है और ( उसमें ) आहुति डालने पर ज्वालारूप से प्रकट होती है, इसी तरह यह वाणी वस्तुतः मेरा व्यक्त स्वरूप है।

३. इसी तरह बोलना, काम करना, चलना, मल-मूत्र त्यागना, सूँघना, चखना, देखना, छूना, सुनना, मन से संकल्प-विकल्प करना, बुद्धि से समझना, अहंकार द्वारा अभिमान करना, महत्-तत्त्व के रूप में सबमें ओत-प्रोत होना, इसी तरह सत्त्व, रज, तमोगुणों की विकारात्मक अवस्था ( विकृति ) होना ( यह सब मेरा दृश्यरूप है )।

४. यह जीवन जो अव्यक्त, एक ही एक, अवस्था में सबसे बड़ा, ब्रह्माण्डरूप कमल का कारण ( ब्रह्मदेव ) है, वही विस्तारित मायाशक्ति के द्वारा उस प्रकार अनेक-सा भासता है, जिस प्रकार खेत में बोया गया बीज शाखा, पुष्प-पत्रादि अनेक रूप धारण करता है।

५. जिस तरह वस्त्र ताना-बाना रूप तन्तुओं से ही बना रहता है, उसी तरह यह अखिल विश्व इस जीवस्वरूप में—जीवन-तत्त्व में, परमात्मा में—ओत-प्रोत है। यह जो पुरातन संसार-तरु है, वह कर्ममय है और इसे ( इह-परलोकों के भोगरूप ) फूल और फल लगते हैं।

६. द्वे अस्य बीजे शत-मूलस् त्रि-नालः
पंच-स्कंधः पंच-रस-प्रसूतिः।
दशैक-शाखो द्वि-सुपर्ण-नीडस्
त्रि-वल्कलो द्वि-फलोऽर्कं प्रविष्टः॥

७. अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा, अेकमरण्यवासाः।
हंसा; य अेकं बहुरूपमिज्यैर्
माया-मयं वेद स वेद वेदम्॥

८. अेवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्या-कुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
संपद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥

## १३. हंस-गीत

१. गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥

२. गुणेषु चाविशत् चित्तं अभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥

६. पाप और पुण्य इस वृक्ष के दो बीज हैं। उसे वासनारूप सैकड़ों जड़ें हैं। सत्त्व, रज, तम ये तीन पोर हैं। पंचमहाभूत प्रमुख पाँच स्कंध ( मोटी डालें ) हैं, जिनमें से शब्द, रस आदि पांच विषय चूते हैं। दस इन्द्रियाँ और मन—ये उसकी ग्यारह शाखाएँ हैं। उस पर जीव और शिवरूप दो पक्षी घोंसले बनाकर रहते हैं। वात, पित्त और कफ ये इस वृक्ष की तीन छालें हैं और सुख एवं दु:ख दो फल हैं। यह (विशाल वृक्ष) सूर्यमण्डल तक फैला हुआ है।

७. गाँवों में रहनेवाले ( विषय-पाशों से बद्ध होकर कामना से पीड़ित ) ये गृहस्थ गीध जैसे हैं। वे इस वृक्ष का दु:खरूप एक फल भोगते हैं। किन्तु जो अरण्यवासी ( परमहंस, विषयों से विरक्त ) इस वृक्ष पर स्थित राजहंस की तरह हैं, वे सुखरूप दूसरे फल का उपभोग करते हैं। ( वास्तव में देखा जाय तो ) यह संसार-वृक्ष नानारूप, केवल, अद्वितीय और मायामय है—इस तरह जो अपने पूज्य सद्‌गुरु से जान लेता है, वेद उसकी समझ में आ गया।

८. इस तरह गुरु की उपासना एकाग्र भक्ति और आत्मविद्यारूप तीक्ष्ण कुल्हाड़ी की मदद से जीव के सूक्ष्मशरीररूप वृक्ष का गर्भ काट दो और सावधानी के साथ—इन्द्रिय-विजयपूर्वक—आत्मस्वरूप को प्राप्त करके उस अस्त्र को भी त्याग दो।

## १३. हंस-गीत

१. ( श्री भगवान् हंसरूप से सनक आदि ऋषियों को उपदेश देते हैं ) हे पुत्रो ! गुणों में चित्त प्रवेश करता और चित्त में गुण प्रवेश करते हैं तथा गुण और चित्त दोनों मिलकर मत्स्वरूप जीव की देह बनती है।

२. बार-बार गुणों का सेवन करने से गुणों में चित्त मग्न होता है और परिणामस्वरूप उस चित्त से गुण उत्पन्न होते हैं। मद्रूप होकर इन दोनों का त्याग करना चाहिए।

३. यर्हि संसृति-बंधोऽयं आत्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस् तद्गुण-चेतसाम्॥

४. यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुंक्ते समस्तकरणैर् हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स अेकः
स्मृत्यन्वयात् त्रिगुणवृत्तिदृगिंद्रियेशः॥

५. अेवं विमृश्य गुणतो मनसस् त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमान-सदुक्ति-तीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥

६. ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस् त्रिधा गुणविसर्ग-कृतो विकल्पः॥

७. दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्त-तृष्णस्
तूष्णीं भवेत् निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तु-बुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥

८. देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरा-मदांधः॥

३. चूँकि ( देहाभिमानरूप ) यह संसृति बंध आत्मा को गुण और वृत्ति देता है, इसलिए तुरीय ( यानी चौथी अवस्था के साक्षी ) मुझमें स्थित होकर यह संसार-बन्धन तोड़ दें, तो गुण और चित्त दोनों का त्याग हो जायगा।

४. जो जाग्रत्-अवस्था में बाह्य जगत् में क्षणभंगुर पदार्थों का इंद्रियों से अनुभव लेता है, स्वप्न में तत्सदृश वस्तुओं का हृदय में अनुभव लेता है और गाढ़ निद्रा में सब समेट लेता है, वह त्रिगुणवृत्तियों का द्रष्टा, इंद्रियस्वामी, स्मृति अनुस्यूत होने के कारण एक ही है ( ऐसा सिद्ध होता है )।

५. इस तरह गुणानुसार मेरी ही माया द्वारा मुझमें ही कल्पित, मन की ये तीन अवस्थाएँ हैं—ऐसा विचार कर सन्देहरहित हो जायँ तथा अनुमान और आप्तवाक्य द्वारा तीक्ष्णीकृत ज्ञान-खड्ग से हृदय की सर्वसंशयरूप सभी व्याधि को काटकर मुझे भजें।

६. चिंतन करें कि—यह विश्व भ्रम है। वह मन का विलास है। उसे घूमती हुई लुकारियों की उस बनेठी की तरह समझें, जो दीखते ही नष्ट हो जाय, इतनी अति चंचल है। विज्ञान एक ही होकर अनेक प्रकार से मानो भासता है वह माया है, वह स्वप्न है, गुणविक्रिया से उत्पन्न हुआ वह त्रिविध विकल्प है।

७. ( फिर ) इन ( विकल्पों ) से अपनी दृष्टि हटाकर, तृष्णा छोड़कर निरिच्छ वृत्ति से आत्मसुख का अनुभव करते हुए शान्त रहे। ( ऐसी स्थिति में ) यह ( दृश्य जगत् ) यदि कभी दीख पड़े, तो उसे मिथ्या समझकर अलग कर दे, तो वह भ्रम के लिए कारण नहीं होगा ( और ) देहपात तक आत्म-स्मृति बनी रहेगी।

८. नश्वर देह कायम है या गिर गयी है यह सिद्ध पुरुष देखता नहीं, क्योंकि वह स्वरूप को प्राप्त कर चुका होता है। जैसे मदिरा-मदांध मनुष्य पहना हुआ वस्त्र दैवयोग से खुल गया है या जगह पर है यह नहीं जानता।

९. देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारंभकं प्रतिसमीक्षत अेव सासुः।
तं सप्रपंचमधिरूढ-समाधि-योगः
स्वाप्नं पुनर् न भजते प्रतिबुद्ध-वस्तुः॥

१०. मयैतदुक्तं वो विप्रा! गुह्यं यत् सांख्य-योगयोः।
जानीत माऽऽगतं यज्ञं युष्मद्-धर्म-विवक्षया॥

११. अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः! श्रियःकीर्तेर् दमस्य च॥

१२. मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासंगादयोऽगुणाः॥

## १४. भक्ति-पावनत्व

१. मय्यर्पितात्मनः सभ्य! निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥

२. अकिंचनस्य दांतस्य शांतस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥

३. न पारमेष्ठ्यं न महेंद्र-धिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योग-सिद्धीर् अपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

४. निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रि-रेणुभिः॥

९. देह भी दैवाधीन रहकर स्वारंभक कर्म ( शेष ) रहने तक प्राण धारण कर राह देखता रहता है। समाधि-योग प्राप्त कर वस्तु-प्रबोधलब्ध पुरुष स्वप्नतुल्य उस सप्रपंच देह को पुनः धारण नहीं करता।

१०. हे सनकादि ऋषियो ! सांख्य और योग का यह रहस्य मैंने आप लोगों से कहा। आप लोगों को धर्म का उपदेश देने के लिए मैं यज्ञरूप विष्णु ही आया हुआ हूँ, ऐसा जानो।

११. हे द्विजश्रेष्ठ ! योग, सांख्य, सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति, दम इन सबका मैं अधिष्ठान हूँ।

१२. सर्व गुण मुझे निर्गुण-निरपेक्ष को भजते हैं, उलटे साम्य, अनासक्ति आदि निर्गुण लक्षण मुझ सुहृत्-प्रिय-आत्मा को भजते हैं। ●

## १४. भक्ति-पावनता

१. हे साधो उद्धव ! सर्वथा निष्काम बने और मुझे आत्मसमर्पण कर मुझसे आत्मस्वरूप हुए पुरुषों को जो सुख मिलता है, वह विषयों में डूबे मनुष्यों को कहाँ मिल सकेगा ?

२. पूर्ण अपरिग्रही, इन्द्रियजयी, शान्त, समदर्शी और मेरी प्राप्ति से सन्तुष्ट-चित्त मेरे भक्त के लिए दसों दिशाएँ सुखमय होती हैं।

३. मुझे आत्मसमर्पण करनेवाला मेरा अनन्य भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्मलोक, महेन्द्रपद, सार्वभौमत्व, पाताल का आधिपत्य, अनेक योग-सिद्धियाँ या मोक्ष तक—किसीकी भी अभिलाषा नहीं रखता।

४. निष्काम, शान्त, निर्वैर और समदृष्टि मुनि की चरण-धूलि से मैं पवित्र होऊँ, इसलिए ( उनके कदम पर कदम रखते हुए ) सदैव उनके पीछे-पीछे चलता रहता हूँ।

५. निष्किंचना मय्यनुरक्त-चेतसः
शांता महांतोऽखिल-जीव-वत्सलाः ।
कामैरनालब्ध-धियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥

६. बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेंद्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर् नाभिभूयते ॥

७. भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात् ॥

८. कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनाऽऽनंदाश्रु-कलया शुद्धयेद् भक्त्या विनाऽऽशयः ॥

९. वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचित् च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्ति-युक्तो भुवनं पुनाति ॥

१०. यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्ति-योगेन भजत्यथो माम् ॥

११. यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथा-श्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर् यथैवांजन-सम्प्रयुक्तम् ॥

५. किसी भी उपाधि अर्थात् संग्रह से रहित, मुझमें अनुरक्त-चित्त, शान्त, विशालहृदय, सब प्राणियों पर प्रेम करनेवाले, किसी भी प्रकार की वासना से अस्पृष्ट-बुद्धि मेरे भक्त जिस निरपेक्ष सुख का अनुभव करते हैं, वह दूसरों की समझ में नहीं आ सकता।

६. मेरा जो भक्त इन्द्रियों पर विजय नहीं पा सका है और इसी कारण विषय जिसे बार-बार परेशान करते हैं, ( उसकी ) मुझमें दृढ़ भक्ति होने पर साधारणतः विषय उसे नहीं सताते।

७. सज्जनों का अत्यन्त प्रिय और उनकी एकमात्र आत्मा मैं केवल श्रद्धापूर्ण एकनिष्ठ भक्ति से ही वश होता हूँ। मेरी अनन्यभक्ति चाण्डालों को भी उनके हीन जन्म-कुल से पावन कर देती है।

८. जब तक शरीर पुलकित नहीं हो उठता, हृदय गद्गद नहीं हो जाता, नेत्रों से आनन्द के अश्रु छलकने नहीं लगते, भक्ति नहीं होती, तब तक ( मलिन ) हृदय शुद्ध कैसे होगा ?

९. प्रेम से जिसकी वाणी गद्गद हो गयी है, चित्त प्रेमार्द्र हो गया है, प्रेम के अतिरेक से जो लगातार आँसू बहाता है, कभी हँसता है, तो कभी लाज छोड़कर जोर-जोर से गाता-नाचता है, ऐसा मेरा भक्त सारे जगत् को पवित्र करता है।

१०. जैसे आग में डालकर तपाया हुआ सोना अपना मैल त्यागकर पुनः अपना असली निखरा रूप प्राप्त कर लेता है, वैसे ही मेरे भक्त की आत्मा मेरे भक्तियोग से कर्म वासना ( यानी चित्त का मैल ) धुल जाने पर तत्काल मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाती है।

११. मेरी पुण्य-गाथाओं के श्रवण और कीर्तन से ज्यों-ज्यों आत्मा निर्मल होती जाती है, त्यों-त्यों अंजन डालने पर आँखों को जिस तरह गुप्त बातें दीखने लगती हैं, उस तरह मेरे भक्त को सूक्ष्म यानी इन्द्रियों से अगोचर परमात्म-वस्तुएँ दिखायी पड़ने लगती हैं।

१२. विषयान् ध्यायतश् चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश् चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥

१३. तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्न-मनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्‌भाव-भावितम् ॥

## १५. सिद्‌धि-विभूति-निराकांक्षा

१. जितेंद्रियस्य दांतस्य जित-श्वासात्मनो मुनेः ।
मद्‌धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्‌लभा ॥

२. अंतरायान् वदन्त्येता युंजतो योगमुत्तमम् ।
मया संपद्यमानस्य काल-क्षपण-हेतवः ॥

३. तेजः श्रीः कीर्‌तिरैश्वर्‌यं ह्रीस् त्यागः सौभगं भगः ।
वीर्‌यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥

४. अेतास् ते कीर्‌तिताः सर्‌वाः संक्षेपेण विभूतयः ।
मनोविकारा अेवैते यथा वाचाऽभिधीयते ॥

५. वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेंद्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥

१२. विषयों का ध्यान करनेवाला चित्त विषयों में आसक्त हो जाता है। इसी तरह दिन-रात मेरा चिन्तन करनेवाले का चित्त मुझमें ही लीन हो जाता है।

१३. इसलिए स्वप्न-मनोरथों की तरह रहनेवाली मिथ्याभूत असत् वस्तुओं का चिन्तन छोड़कर श्रद्धायुक्त भक्ति से भरा अपना चित्त मुझमें सुस्थिर कर दो।

## १५. सिद्धि-विभूति-निराकांक्षा

१. जितेंद्रिय, दमनशील, प्राणजयी, मनोजयी मुनि के लिए ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो अत्यन्त दुर्लभ है ?

२. मुझसे एकरूप होने के लिए उत्तम योग-साधना करनेवाले योगी के मार्ग में ये सिद्धियाँ समय का अपव्यय करनेवाली बाधाएँ ही हैं, ऐसा ( अनुभवी लोग ) कहते हैं।

३. तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा याने विनय, उदारता, सौंदर्य, भाग्यशीलता, वीर्य, सहनशीलता, विज्ञान आदि जो भी श्रेष्ठ गुण जहाँ कहीं होते हैं, वे मेरे ही छोटे-से अंश हैं।

४. तुम्हारे प्रश्न के अनुसार मैंने अपनी इन विभूतियों का संक्षेप में वर्णन किया। वे मनोविकार मात्र हैं। वाणी से बोली जानेवाली वस्तु ( यानी वाचारम्भण मात्र ) ही उसका स्वरूप है। ( वास्तव में उनकी सत्ता ही नहीं है। )

५. इसलिए वाणी, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, इनका निरोध करो। आत्मशक्ति से अपना संयम करो। फिर तू पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसेगा।

६. यो वै वाङ्-मनसी सम्यक् असंयच्छन् धिया यतिः ।
तस्य व्रतं तपो ज्ञानं स्रवत्याम-घटांबुवत् ॥

## १६. गुण-विकास

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं असंगो ह्रीरसंचयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ॥

२. शौचं जपस् तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्य-सेवनम् ॥

३. अेते यमाः सनियमा उभयोर् द्वादश स्मृताः ।
पुंसां उपासितास् तात ! यथाकामं दुहन्ति हि ॥

४. शमो मन्निष्ठता बुद्धेर् दम इंद्रिय-संयमः ।
तितिक्षा दुःख-संमर्षो जिह्वोपस्थ-जयो धृतिः ॥

५. दंड-न्यासः परं दानं काम-त्यागस् तपः स्मृतम् ।
स्वभाव-विजयः शौर्यं सत्यं च सम-दर्शनम् ॥

६. ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥

७. धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञान-संदेशः प्राणायामः परं बलम् ॥

६. जो यति बुद्धि से अपनी वाणी और मन का भलीभांति निरोध नहीं करता, उसके व्रत, तप, ज्ञान ( मिट्टी के ) कच्चे घड़े में स्थित पानी की तरह चू जाते हैं।

## १६. गुण-विकास

१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय या अपहरण न करना, असंगता, विनय, असंग्रह, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा, अभय ( ये बारह यम )

२-३. और शुचिता ( आन्तर और बाह्य शुद्धि ), जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, मेरी पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकार की इच्छा, समाधान और गुरुसेवा ( ये बारह नियम ) शास्त्रों ने बताये हैं। तात उद्धव ! इनकी उपासना, पालन करने पर ये पुरुष के सभी मनोरथ पूर्ण कर देते हैं।

४. मुझमें बुद्धि की निष्ठा ही 'शम' है। इन्द्रिय-निग्रह 'दम' है। दुःख सहन करना ही 'तितिक्षा' है। जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय पाना ही 'धृति' है।

५. किसीको भी दण्ड न देना, यह जो विश्व को अभयदान है, वही श्रेष्ठ 'दान' है। कामनाओं का त्याग 'तप' है। स्वभाव पर विजय 'शौर्य' है और सर्वत्र समदृष्टि 'सत्य' है।

६. सत्य और मधुर भाषण को विज्ञजन 'ऋत' कहते हैं। कर्मों में आसक्त न होना 'शुचिता' है और संकल्प-विकल्प का त्याग ही सच्चा 'संन्यास' है।

७. धर्म ही लोगों का 'हितकर धन' है। मैं परमश्रेष्ठ परमेश्वर ही 'यज्ञ' हूँ। ज्ञान का उपदेश ही 'दक्षिणा' और प्राणायाम ही श्रेष्ठ 'बल' है।

८. भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीर् अकर्मसु ॥

९. दुःखं काम-सुखापेक्षा सुखं दुःख-सुखात्ययः ।
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पंडितो बंध-मोक्ष-वित् ॥

१०. उत्पथश् चित्त-विक्षेपः पंथा मन्निगमः स्मृतः ।
नरकस्तम-उन्नाहः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥

११. दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टो गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ।
गुणेष्वसक्त-धीर् ईशो गुण-संगो विपर्ययः ॥

१२. किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुण-दोषयोः ।
गुण-दोष-दृशिर् दोषो गुणस्तूभय-वर्जितः ॥

## १७. वर्णाश्रम-सार

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं अकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रिय-हितेहा च धर्मोऽयं सार्व-वर्णिकः ॥

२. सर्वाश्रम-प्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनंदन ! ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनो-वाक्-काय-संयमः ॥

८. भगवान् का षड्गुण ऐश्वर्य ही 'भग' है। मेरी भक्ति ही उत्तम 'लाभ' है। आत्मा में (दिखाई देनेवाले नानात्व के) भेद का मिट जाना ही सच्ची 'विद्या' है और निंद्य कर्मों के बारे में घृणा ही 'ह्री' है।

९. विषय-सुख की लालसा ही 'दुःख' है। सुख-दुःख से परे की स्थिति 'सुख' है। देहादि नश्वर वस्तु ही मैं हूँ, ऐसा माननेवाला मनुष्य 'मूर्ख' है। बंध क्या और मोक्ष क्या, यह जाननेवाला पुरुष 'पंडित' है।

१०. चित्त का विक्षेप गलत मार्ग है, कुमार्ग है। वह 'उत्पथ' यानी टेढ़ा रास्ता है। जिस मार्ग से जाने पर मेरी भेट होती है, वह 'सत्पथ' है। तामस गुणों का उत्कर्ष ही 'नरक' और सात्त्विक गुणों का उत्कर्ष 'स्वर्ग' है।

११. जो सदा असंतुष्ट रहता है, वह 'दरिद्र' है। जो सद्गुणों से समृद्ध है, वह ('आढ्य' यानी) 'श्रीमान्' है। गुणों में जिसकी बुद्धि अनासक्त है, वह 'प्रभु' है और जो गुणों में उलझ जाता है, वह 'गुलाम' है।

१२. अधिक क्या कहें? संक्षेप में गुण और दोष का लक्षण यह है कि पदार्थों के गुण-दोष देखना 'दोष' है और उन्हें न देखना 'गुण' है। ●

## १७. वर्णाश्रम-सार

१. हिंसा न करें, सत्य को न छोड़ें, चोरी न करें, काम, क्रोध और लोभ के वश न हों तथा प्राणिमात्र का कल्याण और प्रिय करना चाहें, यह सब वर्णों के लिए समान लागू होनेवाला धर्म है।

२. हे कुलनन्दन उद्धव! सब प्राणियों में मुझ परमेश्वर को देखना और मन, वाणी तथा शरीर का संयम रखना—यह ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के लिए समान नियम है।

३. कुटुंबेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुंब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येत् अदृष्टमपि दृष्टवत् ॥

४. पुत्र-दाराप्त-बंधूनां संगमः पांथ-संगमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥

५. इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥

६. ज्ञान-निष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः ।
सलिंगान् आश्रमान् त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥

७. नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ॥

८. देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित् ।
अेक अेव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः ॥

## १८. विशिष्ट सूचना

१. अर्थस्य साधने सिद्ध उत्कर्षे रक्षणे व्यये ।
नाशोपभोग आयासस् त्रासश् चिंता भ्रमो नृणाम ॥

२. स्तेयं हिंसानृतं दंभः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥

३. परिवार में फँसे न रहें, कुटुम्बी होने पर भी ईश्वर-निष्ठा की उपेक्षा न करें। ज्ञानी पुरुष यह जान ले कि इस दृश्य जगत् की तरह अदृश्य स्वर्ग-सुखादि कर्म-फल भी नाशवान् है।

४. स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई आदि का साथ राह चलते साथियों-सा क्षणिक होता है। निद्रा में दिखाई देनेवाला स्वप्न निद्रा के साथ ही टूट जाता है, इसी तरह प्रत्येक भिन्न देह के साथ स्त्री-पुत्रादि भी दूर हो जाते हैं।

५. यह सोचकर जीवन-मुक्त पुरुष घर पर अतिथि की तरह रहता है। अपने गृहादि से वह नहीं बँधता, क्योंकि उसके लिए 'मैं, मेरा' ऐसा कुछ भी नहीं रहता।

६. वैराग्यशील, आत्मज्ञाननिष्ठ पुरुष या मेरा निष्काम भक्त विशिष्ट मर्यादावाले आश्रमों को त्यागकर किसी भी निश्चित विधि-विधान में न फँसते हुए मुक्त-संचार करे।

७. बुद्धिमान् ( धैर्यवान् ) पुरुष लोगों से ऊबे नहीं और न ऐसा व्यवहार करे, जिससे वे ऊब जायँ। अपशब्द और कठोर भाषण सहन करे। किसीका भी अपमान न करे।

८. जैसे पशु देह के आसक्तिवश दूसरे से वैर करता यानी भय रखता है, वैसे किसीसे वैर न करे या भय न रखे। कारण सब प्राणियों में और स्वयं में भी एक ही परमात्मा निवास कर रहा है। ●

## १८. विशेष सूचनाएँ

१. धन कमाते समय, कमा लेने के बाद उसे बढ़ाते समय, उसकी रक्षा और खर्च करते समय, उसके नष्ट होने या भोग द्वारा कम हो जाने पर मनुष्यों को कष्ट, भय, चिन्ता और भ्रम पैदा होते हैं।

२. चोरी, हिंसा, असत्य, दंभ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा और मद्य, जूआ तथा व्यभिचार—ये ( तीन ) व्यसन,—

३. अेते पंचदशानर्थ ह्यर्थ-मूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस् त्यजेत् ।।

४. देवर्षि-पितृ-भूतानि ज्ञातीन् बंधूंश्च भागिनः ।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ।।

## १९. ज्ञान-वैराग्य-भक्ति

१. ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्
वैराग्य-विज्ञान-युतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर ! विश्वमूर्ते !
त्वद्भक्ति-योगं च महद्-विमृग्यम् ।।

२. ताप-त्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ! ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवांघ्रि-
द्वंद्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ।।

३. दष्टं जनं संपतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्र-सुखोरु-तर्षम् ।
समुद्धरैनं कृपयाऽऽपवर्ग्यैर्
वचोभिरासिंच महानुभाव ! ।।

४. नवैकादश पंच त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथैकमप्येषु तत् ज्ञानं मम निश्चितम् ।।

३. ये पन्द्रह अनर्थ धन से पैदा होते हैं। इसलिए कल्याण के इच्छुक पुरुष को 'अर्थ' नामधारी अनर्थ को दूर से ही त्याग देना चाहिए।

४. जो व्यक्ति देव, ऋषि, पितर, सर्वभूत, ज्ञाति-समाज और बन्धुवर्ग आदि हिस्सेदारों के ( तथा अपने ) बीच धन का ( उचित ) बँटवारा नहीं करता, वह अधोगति प्राप्त करता है।

## १९. ज्ञान-वैराग्य-भक्ति

१. हे विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! अत्यन्त निर्मल वैराग्य और अनुभव से युक्त यह सनातन ज्ञान विस्तार से मुझे बतलाइये। इसी तरह बड़े-बड़े महात्माओं द्वारा अन्वेषणीय अपना भक्तियोग भी मुझे सुनाइये।

२. हे ईश्वर ! मैं त्रिविध तापों से जर्जरित हो गया हूँ और अत्यन्त भयंकर संसार-मार्ग से तपकर निकल रहा हूँ। आपके चरण-युगल मेरे लिए छत्र ( छाता ) और अमृत की वृष्टि की तरह हैं। इन चरण-युगलों के सिवा मुझे दूसरा आश्रय-स्थान दिखाई नहीं देता।

३. हे महाप्रभावशाली देव ! आपका भक्त इस ( संसाररूप ) गर्त यानी गड्ढे में पड़ा है। कालरूप सर्प ने उसे डस लिया है। फिर भी उसकी क्षुद्र सुख-भोगों की तृष्णा नहीं मिटती, बढ़ती ही जा रही है। आप इस गड्ढे से मेरा उद्धार कीजिये और मोक्ष देनेवाले अपने वचनामृत को उस पर वर्षा कीजिये।

४. इस दृश्य जगत् के चराचर भूतों में प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ मिलकर नौ; मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर ग्यारह; पृथ्वी आदि पाँच महाभूत; सत्त्व आदि तीन गुण—इस तरह अट्ठाईस भाव यानी तत्त्व जिस साधना से देखे और समझे जाते हैं और जिससे यह समझ में आता है कि सब भूतों में एक ही वस्तु विराजमान है, वह 'ज्ञान' है—ऐसा मेरा निश्चित मत है।

५. अेतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥

६. आदौ अंते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात् ।
पुनस् तत्प्रतिसंक्रामे यत् शिष्येत तदेव सत् ॥

७. श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यं अनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते ॥

८. कर्मणां परिणामित्वात् आविरिंचादमंगलम् ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येत् अदृष्टमपि दृष्टवत् ॥

९. भक्ति-योगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणस्य तेऽनघ ! ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥

१०. श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥

११. आदरः परिचर्यायां सर्वांगैर् अभिवंदनम् ।
मद्भक्त-पूजाऽभ्यधिका सर्व-भूतेषु मन्मतिः ॥

१२. मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकाम-विवर्जनम् ॥

५. जिस एक ज्ञान से 'विश्व जैसा दीखता है, वैसा नहीं है', यह समझ में आता है, वही सच्चा 'विज्ञान' है। उत्पत्ति, स्थिति और नाश—ये त्रिगुणात्मक पदार्थों को होते हैं, यह विज्ञान से समझ में आ जाता है।

६. जो तत्त्व पहले सृज्य (निर्माण करने योग्य) वस्तु को उत्पन्न करता है, बीच में इस सृज्य में बसता है और अन्त में सृज्य का लय हो जाने पर जो शेष रहता है, वही सत्-ब्रह्म है, ('सृज्यात्' यह क्रियापद वेद में होता है, वैसा यहाँ भी है)।

७. श्रुति-वचन, प्रत्यक्ष, ऐतिहासिक और अनुमान—ये चार प्रमाण हैं। इन चारों प्रमाणों में विकल्प (अनेकत्व यानो मिथ्याप्रपंच) कहीं भी नहीं टिकता, इसलिए विवेकी पुरुष इस विकल्प से विरक्त होता है।

८. ज्ञानी पुरुष यह जान लें कि ब्रह्मलोक तक की अदृष्ट सृष्टि भी दृष्ट यानी दिखाई देनेवाली सृष्टि की तरह ही नश्वर और दुःखदायी है। कारण, वे लोक भी कर्म के परिणामस्वरूप मिलनेवाले हैं—प्राप्त होते हैं।

९. हे निष्पाप उद्धव ! तुम्हारे समाधान के लिए मैंने पहले ही भक्ति-योग बता दिया है। फिर भी अपनी भक्ति का श्रेष्ठ साधन पुनः बताता हूँ।

१०. (जो मेरी भक्ति करना चाहता है, वह) मेरी अमृत-मधुर कथाओं में श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरा कीर्तन करे, मेरी पूजा के विषय में निष्ठा रखे और स्तोत्रों से मेरी स्तुति करे।

११. मेरी सेवा के विषय में आदर रखे, सर्वांगों से नमस्कार करे, मेरे भक्तों की विशेष पूजा करे, सब प्राणियों में मैं ही हूँ, ऐसी भावना करे।

१२. सभी कर्म और व्यवहार मेरे लिए ही करे, वाणी से मेरे ही गुणों का संकीर्तन करे, मन मुझमें लगाये और सब कामनाओं को त्याग दे।

१३. अेवं धर्मैर् मनुष्याणां उद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥

१४. यदाऽऽत्मन्यर्पितं चित्तं शांतं सत्त्वोपबृंहितम् ।
धर्मं ज्ञानं स-वैराग्यं अैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥

## २०. योग-त्रयी

१. योगास् त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो-विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

२. निर्विण्णानां ज्ञान-योगो न्यासिनां इह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्ण-चित्तानां कर्म-योगस्तु कामिनाम् ॥

३. यदृच्छया मत्कथादौ जात-श्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नाति-सक्तो भक्ति-योगोऽस्य सिद्धि-दः ॥

४. तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

५. स्व-धर्म-स्थो यजन् यज्ञैर् अनाशीःकाम उद्धव ! ।
न याति स्वर्ग-नरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥

६. अस्मिन् लोके वर्तमानः स्व-धर्म-स्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धं आप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥

१३. हे उद्धव ! जो मेरे इन धर्मों का पालन करते और मुझे आत्म-निवेदन करते हैं, उनके हृदय में मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है। जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसे और कौन-सी दूसरी वस्तु प्राप्त करना शेष रहता है ?

१४. जब सत्त्वगुण से विकसित और शान्त चित्त परमेश्वर की ओर लग जाता है, उस समय साधक को धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि प्राप्त होते हैं।

## २०. योग-त्रयी

१. मनुष्य के कल्याण के लिए (अधिकार-भेद से) मैंने तीन योग बतलाये हैं। वे तीन योग हैं : ज्ञान, कर्म और भक्ति। मोक्ष के लिए इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

२. जो विरक्त होकर कर्म और उनके फलों को त्याग चुके हैं, उनके लिए ज्ञानयोग है और जिनके चित्त में उनके विषय में वैराग्य नहीं हुआ है, ऐसे सकाम लोगों के लिए कर्मयोग है।

३. जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त हो, लेकिन संयोगवश मेरी लीला-कथाओं में जिसे श्रद्धा पैदा हो गयी, उसे भक्ति-योग से ही सिद्धि मिलती है।

४. जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता अथवा मेरी कथा सुनने में श्रद्धा नहीं होती, तब तक वेदविहित कर्म करने चाहिए।

५. हे उद्धव ! अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार स्वधर्म में स्थिर रहकर, बिना फल और कामना के, यज्ञ से जो मेरी आराधना करेगा और दूसरा कुछ नहीं करेगा, तो वह न स्वर्ग पायेगा और न नरक में ही गिरेगा।

६. इस भूलोक में रहकर ही स्वधर्म का आचरण करनेवाला मनुष्य यदि निष्पाप और शुद्ध हो, तो अनायास उसे निर्मल ज्ञान या मेरी भक्ति प्राप्त होती है।

७. नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरु-कर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

८. यदाऽऽरंभेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेंद्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥

९. धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतंद्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्म-वशं नयेत्॥

१०. मनो-गतिं न विसृजेत् जित-प्राणो जितेंद्रियः।
सत्त्व-संपन्नया बुद्ध्या मन आत्म-वशं नयेत्॥

११. अेष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः॥

१२. सांख्येन सर्व-भावानां प्रतिलोमानुलोमतः।
भवाप्ययावनुध्यायेत् मनो यावत् प्रसीदति॥

१३. जात-श्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्व-कर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥

१४. ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर् दृढ-निश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥

७. सभी देहों में श्रेष्ठ यह मनुष्य-देह, मेरी अनुकूलतारूप हवा से चलनेवाली, एकमात्र गुरुरूप, कर्णधार से युक्त, अत्यन्त दुर्लभ, सुदृढ़ नाव के रूप में अनायास प्राप्त है। इसके सहारे जो संसार-सागर पार न कर जाय, वह आत्मघातकी है।

८. योगी जब नये-नये सकाम कर्म प्रारम्भ करने से ऊबकर विरक्त हो जायगा, तब वह इन्द्रियों का संयम कर आत्माभ्यास से अपना मन ( परमात्मा में ) निश्चित रूप से लगा दे।

९. इस प्रकार दृढ़ रूप से निश्चल करते-करते मन यदि पुनः शीघ्र चंचल होकर भटकने लगे, तो सावधानी से उसे सँवारकर, समझा-बुझाकर, पुचकारकर अपने वश में कर ले।

१०. मन की लगाम न छूटने दें, इन्द्रियों और प्राणों को जीत लें और सत्त्वगुणसम्पन्न बुद्धि से मन को अपने वश में लायें।

११. नियंत्रण में लाये योग्य खुराफाती घोड़े के अन्तःकरण की वृत्ति किस तरह जानी जाय, इस ओर ध्यान देनेवाला पुरुष जिस तरह उसे सतत अपने वश कर लेता है, उसी तरह मन को अपने वश में करना भी वस्तुतः परम योग है, ऐसा ( अनुभवी लोग ) कहते हैं।

१२. सांख्य-शास्त्र में बतायी हुई अनुलोम-प्रतिलोम प्रक्रियानुसार सभी भावों की उत्पत्ति और नाश का चिन्तन करें और यह सब मन प्रसन्न होने तक करते रहें।

१३. मेरी लीला-कथा पर श्रद्धा होकर सब कर्मों से विराग होने लगे, 'सब कामनाएँ दुःखरूप हैं' यह मालूम पड़े, तो भी मनुष्य उन्हें छोड़ने में समर्थ नहीं होता।

१४. इसलिए श्रद्धा और दृढ़ निश्चय से मुझ पर प्रेम रखकर भक्ति करे; और उन विषयों का सेवन करते समय वे दुःखजनक हैं, इस प्रकार उनके विषय में घृणा कर मानव का कर्तव्य है कि श्रद्धा और दृढ़ निश्चय से मुझ पर प्रेम रखकर भक्ति करे।

१५. प्रोक्तेन भक्ति-योगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥

१६. न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यं अपुनर्भवम् ॥

१७. नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर् निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर् निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥

१८. न मय्येकान्त-भक्तानां गुण-दोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥

## २१. वेद-तात्पर्य

१. स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यात् उभयोरेष निश्चयः ॥

२. परोक्षवादो वेदोऽयं बालानां अनुशासनम् ।
कर्म-मोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥

१५. पीछे बताये हुए भक्तियोग का आधार लेकर जो मुनि मेरा अखण्ड भजन करता है, उसके हृदय की सभी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं; क्योंकि मैं परमेश्वर उसके हृदय में वास करता हूँ।

१६. साधुवृत्ति के धैर्यशाली लोग जो मेरी अनन्य भक्ति करते हैं, उन्हें किसी बात की वासना नहीं रहती। स्वयं मेरे द्वारा ही दी हुई जन्म-मरण-रहित मुक्त-स्थिति भी वे नहीं चाहते।

१७. निरपेक्षता ही अत्यन्त श्रेष्ठ, बहुत बड़ा निःश्रेयस् यानी सर्वोत्तम कल्याण है—ऐसा (ज्ञानी पुरुष) कहते हैं। इसलिए आशा-वासनाओं को त्याग निरपेक्ष रहनेवाले को ही मेरी भक्ति प्राप्त होगी।

१८. जो मुझमें अनन्य भक्ति रखते हैं, जिनके चित्त में समता व्याप्त है और जिन्हें बुद्धि से परे का परम तत्त्व प्राप्त हो चुका है, ऐसे लोगों को विधि-निषेध से होनेवाले पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

## २१. वेद-तात्पर्य

१. अपने-अपने अधिकारानुसार कर्तव्य कर्म में निष्ठा होना 'सद्गुण' है, इस तरह उसकी प्रशंसा की गयी है। इसके विपरीत अपने कर्तव्य के विषय में निष्ठा न होना 'दोष' है। गुण-दोष का यह निश्चित लक्षण है।

२. जिस तरह बच्चों को औषधि पिलाते या अनुशासन में रखते समय मिठाई आदि देकर फुसलाया जाता है, उसी तरह कर्मों से छुटकारा पाने के लिए अज्ञ पुरुषों को वेद कर्म ही करने का उपदेश देता है। कारण, वह परोक्षप्रिय है यानी घुमा-फिराकर बताना उसे पसन्द है।

३. वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥

४. शब्द-ब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेंद्रिय-मनो-मयम्।
अनंतपारं गंभीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥

५. मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
अेतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रं अनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रशाम्यति॥

६. शब्द-ब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस् तस्य श्रम-फलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

## २२. संसार-प्रवाह

१. मनः कर्म-मयं नृणां इंद्रियैः पंचभिर् युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥

२. नित्यदा ह्यंग! भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्य-वेगेन सूक्ष्मत्वात् तन्न दृश्यते॥

३. फल की आशा छोड़कर ईश्वरार्पण-बुद्धि से वेदोक्त कर्मों का ही जो अनुष्ठान करता है, उसे कर्मों से निवृत्ति करानेवाली सिद्धि अर्थात् कर्मातीत अवस्था प्राप्त होती है। स्वर्ग-प्राप्ति आदि फल जो वेदों में बताये गये हैं, उनका तात्पर्य रुचि पैदा करना है।

४. शब्द-ब्रह्म का अर्थ है वेद। उसका रहस्य समझना कठिन है। वह प्राण, मन और इन्द्रियों के रूप से ( परा, पश्यंती और मध्यमा वाणी के रूप से ) प्रकट होता है। वह समुद्र की तरह असीम, गम्भीर और अगाध है।

५. वेद मेरे विषय में विधि बताता है, मेरा वर्णन करता है और वेद द्वारा शब्दों से विविध रूप में जिसे-जिसे लक्ष्य कर विश्वकर्ता आदि नाना कल्पनाएँ की जाती और मिटायी जाती हैं, वह भी मैं ( परमात्मा ) हूँ—यही संपूर्ण वेदों का सार है।

६. यदि कोई शब्द-ब्रह्म यानी वेद का शाब्दिक विद्वान् हो जाय, किन्तु परब्रह्म के ज्ञान से वंचित रहे, तो उसके उस श्रम का—उसके कष्ट से अर्जित वेद-ज्ञान का—फल केवल श्रम ही है। ठाँठ गाय को पालनेवाले पुरुष के श्रम की तरह वह श्रम भी व्यर्थ है। ●

## २२. संसार-प्रवाह

१. मानव का कर्ममय मन पंचेंद्रियों सहित एक लोक से ( देह से ) दूसरे लोक में ( देह में ) जाता है। आत्मा उससे अलग ही है। वह उस मन का ( सूक्ष्म शरीर का ) अनुसरण करता है।

२. हे उद्धव ! काल के अतर्क्य वेग से सभी भूत क्षण-क्षण जनमते और मरते हैं। किन्तु यह ( स्थित्यन्तरण ) सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देता।

३. सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर् धीर् मृषायुषाम्॥

४. निषेक-गर्भ-जन्मानि बाल्य-कौमार-यौवनम्।
वयोमध्यं जरा मृत्युर् इत्यवस्थास् तनोर् नव॥

५. प्रकृतेरेवमात्मानं अविविच्याबुधः पुमान्।
तत्त्वेन स्पर्श-संमूढः संसारं प्रतिपद्यते॥

६. तस्मादुद्धव ! मा भुंक्ष्व विषयान् असदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहण-निर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥

## २३. भिक्षु-गीत

१. क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा।
ताडितः सन्निबद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः॥
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत्॥

२. नायं जनो मे सुखदुःख-हेतुर्
न देवताऽऽत्मा ग्रह-कर्म-कालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसार-चक्रं परिवर्तयेद् यत्॥

३. मनो गुणान् वै सृजते बलीयस्
ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥

३. 'यह उसी ज्योति का दीपक है या यह उसी प्रवाह का जल है', ऐसा कहना और मानना मिथ्या है ( क्योंकि दीप-ज्योति और प्रवाह का जल क्षण-क्षण बदलता रहता है )। इसी तरह मानवों को 'यह वही पुरुष है' ऐसा मूढ़ जनों का कहना और समझना मिथ्या है।

४. गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बचपन, कुमारावस्था, युवावस्था, अधेड़-पन, बुढ़ापा और मृत्यु—ये शरीर की नौ अवस्थाएँ हैं।

५. तत्त्वविचार द्वारा प्रकृति से आत्मा को पृथक् न करते हुए अज्ञानी मनुष्य विषयों से मोहित होते हैं और संसार के चक्कर में पड़ते हैं।

६. इसलिए हे उद्धव ! मिथ्या इन्द्रियों से विषयों का भोग मत करो। आत्मा का ग्रहण न होने से प्रतीत होनेवाला यह ( सांसारिक ) भेदरूप भ्रम है, ऐसा समझो।

## २३. भिक्षु-गीत

१. दुष्ट लोग आक्षेप करें, अपमान करें, ठग लें, मत्सर करें, मारें, बन्धन में डालें, आजीविका छीन लें या दुःख में डालें, तो भी मोक्षार्थी स्वयं ही अपनी आत्मा का उद्धार करे।

२. मेरे सुख-दुःख का कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता, न यह शरीर और न ग्रह। कर्म और काल आदि भी कारण नहीं। महात्मा लोग ( सुख-दुःखात्मक ) संसाररूप चक्र घुमानेवाले मन को ही इनका कारण बताते हैं।

३. मन अत्यन्त बलवान् है। वह ( सात्त्विकादि ) गुणों ( गुणवृत्तियों ) को उत्पन्न करता है। उनसे ( सात्त्विक, राजस और तामस जैसे ) तरह-तरह के कर्म पैदा होते हैं और उन ( उन कर्मों ) से सवर्ण यानी कर्मानुरूप विविध गतियाँ उत्पन्न होती हैं।

४. अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिंगं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसंगतोऽसौ॥

५. दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतानि कर्माणि च सद्व्रतानि॥
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

६. मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युंज्याद् वशे तं स हि देवदेवः॥

७. तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगं
अरुंतुदं तन्न विजित्य केचित्।
कुर्वन्त्यसद्-विग्रहमत्र मर्त्यैर्
मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः॥

८. देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यंधधियो मनुष्याः।
अेषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरंतपारे तमसि भ्रमन्ति॥

९. न केनचित् क्वापि कथंचनास्य
द्वंद्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृति-रूपिणः स्यात्
अेवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः॥

१०. अेतां समास्थाय परात्मनिष्ठां
अध्यासितां पूर्वतमैर् महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरंतपारं
तमो मुकुंदांघ्रि-निषेवयैव॥

४. ( मन ही सब तरह की चेष्टाएँ करता है। ) मन इच्छा करते हुए भी आत्मा निरिच्छ ही रहता है। वह प्रकाशमय, मेरा सखा, केवल साक्षी-रूप रहता है। वह मन को अपना रूप समझकर विषयों का भोग करते हुए गुणों की आसक्ति से बंधन में पड़ता है।

is it about Atma ?

५. दान, स्वधर्माचरण, यम, नियम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और उत्तमोत्तम व्रत, सभी का अन्तिम फल है—मन का एकाग्र होना। मन साम्यावस्था में रहे, वास्तव में यही परम योग है।

६. ( बड़े-बड़े ) देवगण भी मन के वश में हो गये। किन्तु मन किसी के वश नहीं होता। मन बलवान्-से-बलवान् भयंकर देव है। जो मन को वश कर लेता है, वह देवों का देव है।

७. सचमुच मन ही बहुत बड़ा शत्रु है। उसे जीतना कठिन है और उसका आक्रमण असह्य है। वह मर्मस्थल पर ही प्रहार करता है। मनुष्य को पहले इस शत्रु को जीत लेना चाहिए। लेकिन मूढ़ लोग उसे जीतने का यत्न न कर मर्त्य मनुष्यों से व्यर्थ झगड़ते रहते हैं और किसीको मित्र, किसीको उदासीन, तो किसीको शत्रु बना लेते हैं।

८. यह मनोमात्र देह पकड़कर 'मम' और 'अहं' से ग्रस्त होकर अंध-बुद्धि के लोग 'यह मैं हूँ' और 'यह दूसरा' ऐसे भ्रम में पड़ते हैं और उसीसे अनन्त-अपार अन्धकार में भटकते रहते हैं।

९. संसार-ग्रस्त अहंवृत्ति को जैसे ( सुख-दुःख आदि ) द्वंद्वों का स्पर्श होता है, वैसा परात्पर चिद्रूप आत्मा को किसी भी कारण, कहीं भी, कैसा भी द्वंद्व-स्पर्श नहीं होता। इस प्रकार जाननेवाला विवेकी पुरुष ( जड़ ) भूतों से नहीं डरता।

१०. अत्यन्त प्राचीन महर्षियों ने इस परात्म-निष्ठा का आश्रय लिया है। मैं भी उसीका आश्रय ग्रहण करूँगा और ( मुक्ति और भक्ति देनेवाले ) मुकुन्द के चरण-कमलों की सेवा द्वारा ही यह दुस्तरतम ( अज्ञान-सागर सहज ही ) तर जाऊँगा।

## २४. पारतंत्र्य-मीमांसा

१. गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुंक्ते कर्मफलान्यसौ ॥

२. यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतंत्र्यं तदैव हि ॥

३. यावदस्यास्वतंत्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्।
य अेतत् समुपासीरन् ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥

४. काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म अेव च।
इति मां बहुधा प्राहुर् गुणव्यतिकरे सति ॥

## २५. सत्त्व-संशुद्धि

१. सत्त्वं रजस् तम इति गुणा बुद्धेर् न चात्मनः।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥

२. आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मंत्रोऽथ संस्कारो दशैते गुण-हेतवः ॥

## २४. पारतंत्र्य-मीमांसा

१. गुण कर्मों को पैदा करते हैं और कर्म करने पर गुणों में से गुण पैदा होते जाते हैं। ( और कर्म बढ़ते जाते हैं। जिसका गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं, वह ) यह जीव गुणों से युक्त होकर कर्म-फल का उपभोग करता है।

२. जब तक गुणों का उतार-चढ़ाव चल रहा है, तब तक आत्मा ( जीव ) एकत्व को भूलकर नानात्व में फँसा रहता है। जब तक यह नानात्व है, तब तक आत्मा की परतंत्रता बनी ही रहेगी।

३. जब तक जीवात्मा को स्वातंत्र्य नहीं है, तब तक उसे ईश्वर से भय बना है। जो गुण-वैषम्य की उपासना करते हैं, वे शोक के दास बनकर मोह में पड़ते हैं।

४. जब गुण-वैषम्य चलता रहता है, तब मुझ परमेश्वर को काल, आत्मा, आगम, लोक, स्वभाव, धर्म आदि अनेक नाम दिये जाते हैं।

## २५. सत्त्व-संशुद्धि

१. सत्त्व, रज और तम–ये तीन बुद्धि के गुण हैं, आत्मा के नहीं। सत्त्व-गुण द्वारा रज और तम इन दोनों को और फिर सत्त्व से ( सत्त्व-गुण की शुद्ध वृत्ति द्वारा ) सत्त्व को भी नष्ट कर देना चाहिए।

२. शास्त्र, जल, प्रजा, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्र और संस्कार—ये दस वस्तुएँ गुण की कारण हैं। ( अर्थात् यदि ये सात्त्विक हों तो सत्त्वगुण की, राजस हों तो रजोगुण की और तामस हों तो तमोगुण की वृद्धि होती है। )

३. सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्व-विवृद्धये ।
ततो धर्मस् ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥

४. रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्त-धीः पुनः ।
अतंद्रितो मनो युंजन् दोषदृष्टिर् न सज्जते ॥

५. यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्व-कर्मभिः ।
तं सत्त्व-प्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥

६. मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निज-कर्म तत् ।
राजसं फल-संकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥

७. अेधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव ! रक्षसाम् ॥

## २६. सत्संगति

१. दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षण-भंगुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुंठप्रिय-दर्शनम् ॥

२. भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्म-सचिवाः साधवो दीन-वत्सलाः ॥

३. यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस् तथा ॥

३. समझदार मनुष्य सात्त्विक गुण की वृद्धि के लिए सात्त्विक वस्तुओं का ही सेवन करें। उससे धर्म का उदय होगा और उसके बाद शीघ्र ही ज्ञान, स्मृति और विवेक प्राप्त होंगे।

४. रजोगुण और तमोगुण से बुद्धि चंचल होने पर भी विवेकी पुरुष पुनः सावधानी से मन काबू में रखकर विषयों की ओर दोष-दृष्टि से देखता है। इसलिए वह उनमें आसक्त नहीं होता।

५. जब कोई मनुष्य भक्तिपूर्वक निरपेक्ष भाव से अपने कर्मों द्वारा मेरी सेवा करता है, फिर वह भले ही स्त्री हो या पुरुष, तो उसे सात्त्विक वृत्तिवाला समझना चाहिए।

६. वर्णाश्रम-विहित अपना कर्म ईश्वर को समर्पित कर दिया जाय या निष्काम भाव से किया जाय, तो वह 'सात्त्विक' होता है। फल की इच्छा से किया हुआ कर्म 'राजस' और दूसरे को कष्ट पहुँचाने की वृत्ति से किया जानेवाला कर्म 'तामस' होता है।

७. हे उद्धव ! सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर देवताओं का बल बढ़ता है। रजोगुण की वृद्धि से दैत्यों का और तमोगुण की वृद्धि से राक्षसों का बल बढ़ता है।

## २६. सत्संगति

१. मनुष्य-देह क्षणभंगुर होने पर भी जीव के लिए उसका पाना दुर्लभ है। उसमें भी भगवान् पर प्रेम करनेवाले और भगवान् के प्रेमास्पद भक्तों का दर्शन उससे भी दुर्लभ है, ऐसा मुझे लगता है।

२. जो देवताओं को जिस तरह भजते हैं, देवता भी उन्हें उसी तरह भजते हैं। जैसे छाया मनुष्य के पीछे-पीछे जाती है, वैसे ही देवता भी कर्म का अनुसरण करते हैं। केवल साधु-सन्त निरपेक्ष भाव से दीनवत्सल होते हैं।

३. अग्निनारायण का आश्रय लेनेवाले को ठंड, अन्धकार या भय नहीं रहता, उसी प्रकार सन्तों की सेवा करनेवाले को।

why Saint why not needy and helpless poor ?

४. निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्म-विदः शांता नौर् दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥

५. अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥

६. प्रायेण भक्ति-योगेन सत्संगेन विनोद्धव ! ।
नोपायो विद्यते सध्र्यं प्रायणं हि सतामहम् ॥

## २७. पूजा

१. पिंडे वाय्वग्नि-संशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेत् नादान्ते सिद्ध-भाविताम् ॥

२. स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन् ! इति वंदेत दंडवत् ॥

३. मल्लिंग-मद्भक्तजन-दर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्व-गुणकर्मानुकीर्तनम् ॥

४. जैसे पानी में डूबनेवालों को दृढ़ नौका तार देती है, वैसे ही भयंकर भवसागर में गोते खानेवाले को ब्रह्मवेत्ता, शान्त सन्त उत्तम आधार हैं।

५. अन्न प्राणियों का जीवन है, दुःखियों का आधार मैं परमेश्वर हूँ, धर्म ही परलोक के लिए मनुष्य की पूंजी है और संसार से भयभीत लोगों के लिए सन्तजन ही परम आधार हैं।

६. हे उद्धव ! साधुओं की संगति होने पर जो भक्तियोग साधता है, प्रायः उसके सिवा मेरी प्राप्ति का दूसरा अच्छा उपाय नहीं, क्योंकि मैं ही सन्तों की अन्तिम गति हूँ।

## २७. पूजा

१. खुली हवा और सूर्य-प्रकाश से (अथवा प्राणायाम और शरीर की अग्नि से—उष्णता से) शरीर शुद्ध हो जाने पर ॐकार की नादोपासना कर अन्त में सिद्ध पुरुषों द्वारा ध्यान की हुई, हृदयकमल में स्थित नारायण-स्वरूप मेरी श्रेष्ठ सूक्ष्म जीवन-कला का ध्यान करें।

२. प्राचीन सस्कृत कवियों द्वारा रचे संस्कृत स्तोत्रों और (भक्तों द्वारा गाये गये) प्राकृत भजनों, नानाविध पौराणिक कथाओं, लौकिक स्तोत्रों एवं भजनों से मेरी स्तुति करें और फिर 'हे भगवन्, प्रसन्न हो' ऐसी प्रार्थना कर साष्टांग प्रणाम करें।

३. मेरी मूर्ति का और मेरे भक्तों का दर्शन करें। उनका स्पर्श, सेवा-शुश्रूषा और पूजा-स्तुति करें तथा नम्र भाव से मेरे गुण और कर्मों का कीर्तन करें।

४. मत्कथा-श्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव !
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्म-निवेदनम् ।।

५. यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ।।

६. श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।।

७. योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।
महर् जनस् तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ।।

८. देवर्षि-भूताप्त-नृणां पितॄणां
न किंकरो नायमृणी च राजन् ! ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुंदं परिहृत्य कर्तम् ।।

९. तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ।।

१०. मामेकमेव शरणं आत्मानं सर्व-देहिनाम् ।
याहि सर्वात्म-भावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ।।

४. हे उद्धव ! मेरी ( लीलाओं-दिव्य जन्म-कर्मों—की ) कथाओं को सुनने की श्रद्धा रखें और निरन्तर मेरा ध्यान करें। जो कुछ मिले, सब मुझे अर्पण करें और दासभाव से आत्मनिवेदन करें।

५. संसार में जो-जो अत्यन्त प्रिय है और जो स्वयं को अत्यन्त प्रिय हो, वह सब मुझे अर्पण करें। ऐसा करने पर वह वस्तु अनन्त फल देनेवाली होती है। ( अथवा ऐसा करना मोक्षप्रद होता है। )

६. मेरा भक्त श्रद्धा से मुझे केवल जल ही चढ़ाता है, तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। लेकिन जिसकी मुझ पर भक्ति नहीं है, उसकी दी हुई बहुत-सी सामग्री भी मुझे संतोष नहीं देती।

७. योग, तप, संन्यास से महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक जैसी निर्मल गति प्राप्त होती है। लेकिन भक्तियोग की गति मैं ( ही )—परमात्मा—हूँ।

८. संसाररूपी भेद-भाव के गड्ढे से बचकर जो सर्वात्मभाव से शरणागत-वत्सल मुकुंद की शरण जाता है, वह देव, ऋषि, आप्त-इष्ट, मानव, पितर और अन्य प्राणिमात्र के ऋण से मुक्त हो जाता है, वह किसीका किंकर नहीं होता, यानी किसीके बन्धन में नहीं रहता।

९. इसलिए उद्धव! श्रुति-स्मृति में कथित विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सुनने योग्य और सुने हुए सब विषयों का त्याग कर और—

१०. सर्वत्र मेरी ही भावना करते हुए समस्त प्राणियों के आत्मस्वरूप मुझ एक की ही पूर्ण शरण आ, जिससे तू सब ओर से निर्भय हो जायगा।

Atma is offshoot of Parmatma' which is Nirakar Om without body which only is to be prayed nothing more than that.

## २८. ब्रह्म-स्थिति

१. यावद् देहेंद्रियप्राणैर् आत्मनः सन्निकर्षणम्
संसारः फलवान् तावत् अपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥

२. अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर् न निवर्तते।
ध्यायतो विषयान् अस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥

३. शोक-हर्ष-भय-क्रोध-लोभ-मोह-स्पृहादयः।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः॥

४. अमूलमेतद् बहु-रूप-रूपितं
मनो-वचः-प्राण-शरीर-कर्म।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन
च्छित्त्वा मुनिर् गां विचरत्यतृष्णः॥

५. समाहितैः कः करणैर् गुणात्मभिर्
गुणो भवेन्मत्सुविविक्त-धाम्नः।
विक्षिप्यमाणैर् उत किं नु दूषणं
घनैरुपेतैर् विगतै रवेः किम्॥

६. तथापि संगः परिवर्जनीयो
गुणेषु माया-रचितेषु तावत्।
मद्भक्ति-योगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनः-कषायः॥

७. करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात्।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्त-तृष्णः स्वसुखानुभूत्या॥

# २८. ब्रह्म-स्थिति

१. जब तक अविवेकी पुरुष अज्ञानवश देह, इन्द्रिय और प्राणों का आत्मा से सम्बन्ध जोड़ता है, तब तक उसे यह संसार, मिथ्या होते हुए भी, सुख-दुःखादि फल देता है।

२. स्वप्न में अनेक विपत्तियाँ आती हैं, लेकिन वास्तव में वे नहीं होतीं। इसी तरह अर्थ ( यानी विषयों के ) न रहते हुए भी विषयों का चिन्तन करनेवाला संसार-निवृत्त ही नहीं होता।

३. शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा आदि विकार और जन्म-मरण अवस्थाएँ—ये सभी अहंकार के धर्म हैं, ऐसा दीख पड़ता है। वे आत्मा के धर्म नहीं हैं।

४. अनेक रूपों में प्रकट होनेवाले ये मानसिक, वाचिक, प्राण-सम्बन्धी और कायिक कर्म वास्तव में निर्मूल ही होते हैं। ज्ञानी भक्त उन्हें उपासना से तेज किये हुए ज्ञानरूपी खड्ग से छेदकर निष्काम हो पृथ्वी पर विचरता है।

५. जिसने विवेक से मेरा स्वरूप भलीभाँति निश्चित कर लिया है, ऐसे ज्ञानी भक्त के लिए गुणात्मक इन्द्रियाँ समाहित ( शान्त ) हुईं तो क्या लाभ ? या वे क्षुब्ध अथवा चंचल हुईं तो क्या हानि ? बादलों के आने या जाने से क्या सूर्य में कुछ फर्क पड़ेगा ?

६. ऐसा होने पर भी जब तक मन को दूषित करनेवाला रजोगुण मेरे दृढ़ भक्तियोग द्वारा मिटाया न जाय, तब तक मायाजनित गुणों की यानी विषयों की आसक्ति छोड़ ही देनी चाहिए।

७. किसी भी कारण से प्रेरित अज्ञानी जीव देह गिरने तक कर्म करता रहता है और उन कर्मों से विकार-ग्रस्त होता है। लेकिन ज्ञाता पुरुष देह में यानी माया के राज्य में रहते हुए भी कर्म करके विकृत नहीं होता; क्योंकि उसकी तृष्णा मिट जाती है और वह आत्मसुख का अनुभव लेता रहता है।

८. तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत् किमपीहमानं
आत्मानमात्मस्थमतिर् न वेद ॥

९. यदि स्म पश्यत्यसदिंद्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥

१०. पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र
अज्ञानमात्मन्यविविक्तमंग ! ।
निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥

११. यथा हि भानोरुदयो नृ-चक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते
अेवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात् तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥

१२. अेष स्वयं-ज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
अेकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश् चरन्ति ॥

८. आत्मस्वरूप में स्थित पुरुष को यह भान ही नहीं रहता कि देह खड़ी है या बैठी, चल रही है या सो रही है, मल-मूत्र त्याग रही है या भोजन कर रही है अथवा स्वभावानुसार और कोई कर्म कर रही है !

९. स्वप्न से जाग जाने पर स्वप्न के विषय नष्ट हो जाते हैं, इसलिए वे मिथ्या हैं, ऐसा हम लोग निश्चित करते हैं। ठीक इसी तरह ज्ञानी पुरुष मिथ्याभूत इन्द्रियों के रूपादि विषयों को देखता हुआ भी 'वे अनेक हैं' इस अनुमान ( हेतु ) से उसे ( मूल स्वरूप के ) विरुद्ध मानकर निश्चित करता है और आत्मा के सिवा जो कुछ भिन्न है, उसे सत्य नहीं मानता।

१०. उद्धव ! गुण और कर्मों के कारण विविध रूपों में भासनेवाला अज्ञान आत्मा से भिन्न है, इसका पहले से ज्ञान नहीं रहता; पर विचार से ही उस अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। आत्मा का न तो ग्रहण करना पड़ता है और न त्याग ही। ( वह सदैव रहता ही है। )

११. जैसे सूर्य का उदय घट, पट आदि पदार्थों का निर्माण नहीं करता, केवल मनुष्य की आँखों पर का अन्धकार हटा देता है, वैसे ही मुझ परमात्मा का पूर्ण निःशंक ( श्रुतिसिद्ध ) ज्ञान होने पर पुरुष की बुद्धि का अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है। ( वह ज्ञान ब्रह्म-वस्तु का निर्माण नहीं करता, वह तो स्वतःसिद्ध रहती ही है। )

१२. यह आत्मा स्वयंप्रकाश, अजन्मा, अप्रमेय ( प्रमाणों से जानने में कठिन ) यानी अज्ञेय, सारी सृष्टि और समाज के साथ एकरूप ऐसा अनुभवस्वरूप एकमात्र और अद्वितीय है। जहाँ वाणी विरत हो जाती है, ऐसा अवर्णनीय है। उसकी प्रेरणा से ही वाणी और प्राणों के व्यापार चलते हैं।

## २९. भक्ति-सारामृत

१. हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमंगलान्।
यान् श्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्॥

२. कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पित-मनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥

३. मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खं अमलाशयः॥

४. ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पंडितो मतः॥

५. नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धाऽसूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥

६. विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दंडवद् भूमौ आश्वचांडालगोखरम्॥

७. यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवं उपासीत वाङ्मनःकाय-वृत्तिभिः॥

८. अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्काय-वृत्तिभिः॥

९. एषा बुद्धिमतां बुद्धिर् मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यं अनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

# २९. भक्ति-सारामृत

१. हे उद्धव ! अपना अत्यन्त कल्याणकारी भागवत-धर्म तुझे बताता हूँ, सुन । उसका श्रद्धा से आचरण करने पर अत्यन्त दुर्जय मृत्यु पर मानव विजय पा लेता है ।

२. मेरे भागवत-धर्म में स्वयं रमकर, अपना मन और चित्त मुझे अर्पण कर, सावधानी से मेरा स्मरण करते हुए—सब कर्म मेरे लिए धीरे-धीरे करता जा ।

३. शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष आकाश की तरह बाहर-भीतर आवरण-रहित और मुक्त ( निरुपाधि ) मुझे यानी आत्मा को सब प्राणियों में और अपने हृदय में स्थित देखे ।

४. ब्राह्मण और अन्त्यज ( जाति ); चोर और साहु ( कर्म ); सूर्य और चिनगारी ( गुण ); कृपालु और क्रूर ( स्वभाव )—इन विषम वस्तुओं को जो समदृष्टि से देखता है, उसे 'पंडित' कहते हैं ।

५. जो पुरुष सभी स्त्री-पुरुषों में निरन्तर मेरी ही भावना करता है, उसके स्पर्धा, मत्सर, तिरस्कार आदि दुष्ट विकार, अहंकार तक, कुछ ही काल में नष्ट हो जाते हैं ।

६. स्वजन हँसी करें तो करने दें, देहविषयक दृष्टि और उनसे उत्पन्न लाज छोड़ दें और कुत्ते, चाण्डाल, गाय, गधा आदि सबको साष्टांग प्रणाम करें ।

७. जब तक सब प्राणियों में 'मेरा ईश्वर-रूप ही है' ऐसी भावना न हो जाय, तब तक मेरा भक्त काया, वाचा और मन से मेरी उपासना करे ।

८. मेरी प्राप्ति के सब उपायों में श्रेष्ठ उपाय मैं यही समझता हूँ कि काया, वाचा और मन की सब वृत्तियों से सब प्राणियों में मेरी भावना की जाय ।

९. इस लोक में इस विनाशी असत् शरीर द्वारा मुझ अविनाशी, सत्य-तत्त्व को प्राप्त करने में ही विवेकियों के विवेक और चतुरों की चतुराई की पराकाष्ठा है ।

## ३०. मुक्त-विहार

१. मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यं अशेषतः ।
यदर्थं अवतीर्णोऽहं अंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥

२. त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबंधुषु ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ॥

३. ज्ञानविज्ञान-संयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।
आत्मानुभव-तुष्टात्मा नांतरायैर् विहन्यसे ॥

४. दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथाऽर्भकः ॥

५. सर्वभूतसुहृच्छांतो ज्ञान-विज्ञान-निश्चयः ।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥

# ३०. मुक्त-विहार

१. ब्रह्माजी की प्रार्थना पर जिस कार्य के लिए मैंने अंश से अवतार लिया था, वह इस लोक का देवों का कार्य मैं संपूर्ण पूरा कर चुका हूँ। ('अंशेन' का 'अंश के साथ' ऐसा भी अर्थ किया जाता है।)

२. अब तू भी अपने आप्त, आत्मीयजनों का सारा प्रेम छोड़ अनन्य प्रेम से मुझमें अपना मन लगा, सर्वत्र सम-दृष्टि रख और पृथ्वी पर विचरण करता रह।

३. शास्त्रजन्य ज्ञान के साथ अनुभवजन्य विज्ञान का योग हो जाने पर तुझे यह ज्ञान होगा कि 'सब प्राणियों की आत्मा तू ही है'। फिर तुझे आत्म-साक्षात्कार के कारण समाधान प्राप्त होगा और फिर किन्हीं भी घातक विघ्नों की बाधा न होगी।

४. जो मनुष्य गुण-दोष-बुद्धि से परे हो जाता है—वह निषिद्ध कर्मों से निवृत्त अवश्य होता है, पर उनमें दोष-बुद्धि से नहीं। वह विहित कर्मों का अनुष्ठान करता अवश्य है, पर गुण-बुद्धि से नहीं। ये दोनों बातें उसके द्वारा बालक की तरह सहज भाव से हो जाती हैं।

५. श्रौत ज्ञान और अनुभवजन्य विज्ञान से जिसकी मुझमें अटल श्रद्धा है, वह सब प्राणियों का हितैषी मित्र होता है और उसकी वृत्ति शान्त रहती है। यह सब प्रतीत होनेवाला विश्व मेरा ही ईश्वर-रूप है, ऐसा वह देखता है; इसलिए उसे फिर कभी जन्म-मरण की विपत्ति में नहीं पड़ना पड़ता।

## ३१. कृष्ण-चरित्र-स्मरण

१. बिभ्रद् वपुः सकल-सुंदर-सन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमंगलमाप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥

२. वैरेण यं नृपतयः शिशुपाल-पौण्ड्र-
शाल्वादयो गति-विलास-विलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृत-धियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥

३. मा भैर् जरे! त्वमुत्तिष्ठ काम अेष कृतो हि मे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥

४. लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलाम् ।
योगधारणयाऽऽग्नेय्याऽदग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ।

५. स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् ।
गीर्भिस् ताः स्मरतां चित्तं पदैस् तान् ईक्षतां क्रियाः ॥

# ३१. कृष्ण-चरित्र-स्मरण

१. भगवान् श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण सुन्दर पदार्थों से भरा शरीर धारण कर पृथ्वी पर मंगलमय कल्याणकारी कर्म किये। ये पूर्णकाम प्रभु द्वारका-धाम में रहकर लीला करते रहे और उन्होंने अपनी उदार कीर्ति स्थापित की। अन्त में श्रीहरि ने अपने कुल का संहार करना चाहा, क्योंकि अब पृथ्वी का भार उतारने का ही काम शेष रह गया था।

२. शिशुपाल, पौण्ड्र और शाल्व आदि राजाओं ने तो वैर-भाव से श्रीकृष्ण की बोल-चाल, चितवन आदि लीला-विलास का सोते-जागते सतत चिन्तन किया। इससे उनकी चित्त-वृत्ति श्रीकृष्णाकार हो गयी और वे तत्स्वरूप बन गये। फिर जो लोग प्रेम-भाव और अनुराग से श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं, उन्हें श्रीकृष्ण की प्राप्ति होने में क्या सन्देह है ?

३. हे जराव्याध ! (तुम्हारा तीर मुझे लग गया इसलिए) तुम मत डरो, उठो ! तुमने तो मेरे मन का ही काम किया है। मेरी अनुज्ञा से अत्यन्त पुण्यवानों को प्राप्त होनेवाला स्वर्ग तुम्हें प्राप्त होगा।

४. भगवान् श्रीकृष्ण सबके नेत्रों को आनन्द देनेवाले और उपासकों की ध्यान-धारणा के लिए मंगलमय अपने शरीर को आग्नेयी योगधारणा द्वारा दग्ध न करते हुए निज-धाम को चले गये।

५. भगवान् की वह मूर्ति त्रैलोक्य के सौन्दर्य को तुच्छ करनेवाली थी। उसने सबके नेत्र आकृष्ट कर लिये थे। उनकी वाणी, उनके उपदेश मधुर और दिव्य थे। उनका जो स्मरण करते थे, उनके चित्त उन्होंने छीन लिये थे। उनके चरण-चिह्नों का दर्शन होते ही लोगों की अन्य सभी क्रियाएँ रुक जातीं थीं और वे तटस्थ हो जाते थे।

६. आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यंजसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः॥

७. यो वा अनंतस्य गुणान् अनंतान्
अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर् गणयेत् कथंचित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥

८. यत्काय एष भुवनत्रयसंनिवेशः
यस्येंद्रियैस् तनुभृतां उभयेंद्रियाणि।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता॥

९. यदेतदानंदसमुद्र-संभृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।
कृष्णेन योगेश्वर-सेवितांघ्रिणा
सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्य जगद् विमुच्यते॥

१०. भवभयमपहन्तुं ज्ञान-विज्ञान-सारं
निगमकृदुपजह्रे भृंगवद् वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि॥

६. इस प्रकार बड़े-बड़े कवियों द्वारा सुन्दर काव्यों के रूप में वर्णनीय कीर्ति उन्होंने सारे भूमण्डल पर सहज फैलायी और (अपने गमन के बाद, उस कीर्ति का गान, श्रवण व स्मरण कर) लोग इस अज्ञानरूप अन्धकार से पार हो जायँ, यह विचार कर वे अपने धाम को चले गये।

७. अनन्त रूप भगवान् के गुण भी अनन्त हैं। जो उनकी गणना करने की सोचेगा, उसे मूर्ख ही कहना पड़ेगा। बहुत समय लगाकर, दीर्घ प्रयत्न के बाद शायद, पृथ्वी के रजःकणों का गिनना भी सम्भव हो जाय, लेकिन सर्व-शक्तियों के आश्रय-स्थान परमेश्वर के गुणों की गणना कभी भी सम्भव नहीं।

८. भगवान् का यह शरीर त्रिभुवन का आकार है। उनकी इन्द्रियों की प्रेरणा से ही सभी देहधारियों की दोनों इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) अपना-अपना व्यवहार करती हैं। स्वयं उनसे प्राणियों को ज्ञान और श्वासोच्छ्वास से शरीर का बल, इन्द्रियों की तेजस्विता तथा कर्मशक्ति या प्रेरणा प्राप्त होती है। वे सत्त्व, रज, तम–इन तीन गुणों से इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और लय के आदिकर्ता नारायण हैं, ऐसा जानो।

९. बड़े-बड़े योगी जिनके चरणों की सेवा करते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने परम भक्त उद्धव को आनन्द-महासागर से भरा यह ज्ञानामृत पिलाया। इसका उत्कृष्ट श्रद्धा के साथ सेवन करने पर संसार मुक्त हो जाता है।

१०. भ्रमर अनेक पुष्पों से मधु-संग्रह करता है। इसी तरह स्वयं वेदों को प्रकाशित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्तों को संसार-भय से मुक्त करने के लिए वेदों का यह ज्ञान-विज्ञानरूप सार, मानो दूसरा अमृत ही समुद्र से निकालकर अपने भक्तों को पीने के लिए दिया। जगत् के मूल कारण उन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ।

This book is meant for U.Dow

# भागवत-धर्म-मीमांसा

१. भागवत-धर्म

२. भक्त-लक्षण

३. माया-संतरण

४. बद्ध-मुक्त-मुमुक्षु साधक

५. वर्णाश्रम-सार

६. ज्ञान-वैराग्य-भक्ति

७. वेद-तात्पर्य

८. संसार-प्रवाह

९. पारतन्त्र्य-मीमांसा

१०. पूजा

११. ब्रह्म-स्थिति

१२. कृष्ण-चरित्र-स्मरण

# १. भागवत-धर्म

( २.१ ) मन्येऽकुतश्चित् भयमच्युतस्य
पादांबुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेर् असदात्मभावात्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥[1]

—भागवत ११.२.३३.

**मन्ये**—मानता हूँ । **अत्र**—इस दुनिया में । **नित्यम्**—सदैव के लिए । **अच्युतस्य पादांबुजोपासनम्**—भगवान् के चरण-कमलों की सेवा । **अकुतश्चित् भयम्**—कहीं से कोई भयप्रद नहीं । वह सर्वथा निर्भय है ।

भागवत में भगवान् भगवद्-भक्ति का विशेष वर्णन कर रहे हैं। जो भगवान् के चरणों की सेवा करेगा, वह इस दुनिया में किसी प्रकार किसीसे कभी नहीं डरेगा । उसे कभी किसी प्रकार का भय हो ही नहीं सकता ।

फिर भी आश्चर्य की बात है कि हिन्दुस्तान में भगवान् की भक्ति अधिक देखी जाती है और डरनेवाले लोगों की संख्या भी अधिक है । प्रश्न होगा : हम भगवान् की भक्ति करें और चित्त में डर भी रखें, ऐसा क्यों होता है ? इसीलिए कि उस भक्ति में जड़ता है । वह भक्ति जड़ श्रद्धा के रूप में है, जीवित-जागृत भक्ति नहीं ।

माँ पर बच्चे की जीवित श्रद्धा होती है । वह माँ की गोद में होगा, तो कभी नहीं डरेगा । माँ कोई बड़ी ताकत नहीं रखती, फिर भी बच्चा समझता है कि वह मेरा हर प्रकार से बचाव करनेवाली है । घर को

---

१. यहाँ मूल श्लोक के पहले जो संख्या दी है, वह पीछे दिये गये 'भागवत-धर्म-सार' की है । प्रथम संख्या अध्याय की और दूसरी श्लोक की है । श्लोक के नीचे की संख्या मूल भागवत के स्कन्ध, अध्याय और श्लोक की संख्या समझनी चाहिए ।

आग लगी हो, तो भी बच्चा कुछ हलचल नहीं करेगा। माँ उसे उठा ले जाय तो ठीक, नहीं तो वहीं पड़ा रहेगा। माँ के प्रति बच्चे की जैसी दृढ़ श्रद्धा है, क्या भगवान् के प्रति हमारी वैसी श्रद्धा है ? हम अनुभव ही नहीं करते कि 'भगवान् की भक्ति करते हैं, उनका नाम लेते हैं तो हर हालत में वे हमें बचायेंगे, हम निर्भय हैं।' हमने अपने माता-पिता से सुना कि 'कोई भगवान् हैं', इसीलिए हम भी कहते हैं कि 'भगवान् हैं।' किन्तु वह कोई जीवित श्रद्धा नहीं। यदि जीवित श्रद्धा हो तो किसी प्रकार का भय ही नहीं रहेगा। संसार में अत्यन्त निर्भर करनेवाली कोई वस्तु है तो वह भगवान् की भक्ति ही है।

भय कैसे पैदा होता और कैसे निवृत्त होता है, तो कहते हैं:
**उद्विग्नबुद्धेः असद्-आत्मभावात् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः।**

**असद्-आत्मभावात्**—देहात्मभाव से, अर्थात् आत्मा के बारे में 'देह ही आत्मा है' ऐसी मिथ्या कल्पना होने के कारण। **उद्विग्नबुद्धेः**—जिसकी बुद्धि उद्विग्न होती है, यानी असद् आत्मभाव से बुद्धि भयग्रस्त होती है। किन्तु अच्युत की चरण-सेवा से **विश्वात्मता** यानी 'सारा विश्व मेरा ही रूप है' ऐसी व्यापक भावना होती है, जिससे **निवर्तते भीः**—भय निवृत्त हो जाता है।

सारांश, देहबुद्धि या देहभावना यानी 'मैं देह हूँ' यह भावना दृढ़ होने के कारण भय पैदा होता है। पर भय निवृत्त कैसे होता है ? भागवत-धर्म के परिणामस्वरूप। भगवद्-भक्ति से, अच्युत की चरण-सेवा से मनुष्य विश्वात्मा बनता है। देहभाव की जगह विश्वात्मभाव पैदा होता है। 'सारे विश्व में मेरा ही रूप है' ऐसी व्यापक भावना पैदा होती है और उससे भय निवृत्त हो जाता है।

देहभाव होने से मानव भयभीत होता है तो भगवद्-भक्ति से विश्व-व्यापक-भाव बनता और भय खतम होता है। भगवद्-भक्ति मनुष्य को अपनी देह से अलग करके सारे विश्व के साथ जोड़ देती है। देह की भावना अपने को विश्व से अलग करती है—'मैं अकेला एक बाजू और कुल दुनिया दूसरी बाजू ! मैं अलग और ये सब अलग !' इसीको संस्कृत में 'स्व-पर-भेद' कहते हैं। देहबुद्धि के कारण ऐसे दो टुकड़े हो जाते हैं, पर विश्वात्म-भावना से वे टुकड़े जुड़ जाते हैं। सार यह कि भगवान्

विश्वेश्वर की भक्ति के कारण विश्वात्म-भावना आती है, इसलिए भय निवृत्त होता है।

'कुरान' में बार-बार इसी विश्वात्म-भाव पर जोर दिया है : **रब्बुल अल् अमीन**। भगवान् कैसे हैं ? सब दुनिया के प्रभु हैं। केवल मेरे नहीं, सबके प्रभु ! इससे बुद्धि व्यापक बनती है कि हम सब एक प्रभु की सन्तानें हैं। 'यह एक विश्व और वही हम' यानी विश्व और हममें कोई फरक ही नहीं, यह भावना होती है। इस तरह स्पष्ट है कि मनुष्य भगवद्-भक्ति से विश्वात्मा बनता है और विश्वात्मा बनने पर उसकी भय-निवृत्ति होती है।

**( २.२ ) ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्म-लब्धये।**
**अंजः पुंसां-अविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥**

—११.२.३४.

इसे भागवत-धर्म क्यों नाम दिया गया ? तो समझा रहे हैं : **ये वै भगवता प्रोक्ताः उपायाः।**

**ये**—जो। **वै**—ही। **भगवता**—भगवान् द्वारा। **प्रोक्ताः**—कहे गये। **उपायाः**—उपाय हैं।

अर्थात् भगवान् ने भगवत्-प्राप्ति के ये उपाय बताये, इसीलिए इनका नाम 'भागवत-धर्म' है। किसलिए बताये ? **आत्मलब्धये** यानी अपनी लब्धि ( प्राप्ति ) के लिए। दुनिया में हमें सब कुछ हासिल है। पैसा, घर, तरह तरह के पदार्थ, बहुत कुछ हमने हासिल कर लिया है, लेकिन एक चीज हमारी खो गयी है—खुद को ही खो बैठे हैं ! बाकी सब प्राप्तियाँ हैं। विद्या पढ़ी, तो विद्या-प्राप्ति है। धन कमाया, तो धन-प्राप्ति है, लेकिन हमें अपनी ही प्राप्ति, आत्म-प्राप्ति नहीं हुई। महाराष्ट्र में सन्त रामदास स्वामी हो गये हैं। परमात्म-प्रसाद का अनुभव होने पर उन्होंने लिखा है : **बहुता दिसा आपुली भेट झाली**—बहुत दिनों बाद मेरी खुद अपने से मुलाकात हुई, जो अब तक हो नहीं पायी थी। तो, भगवान् ने ये जो 'अपनी' प्राप्ति के उपाय बताये, उन्हींका नाम है भागवत-धर्म।

'कैसे हैं ये उपाय ?' तो कहते हैं : **अंजः पुंसां-अविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्।**

**अंजः**—सादे, सरल। **पुंसां-अविदुषाम्**—मूढ़ जनों के लिए। **विद्धि**—

( कहे गये ) समझो। **भागवतान् हि तान्**—उनको भागवत-धर्म ही ( समझो )।

मूढ़ जनों के काम आनेवाले, सीधे-सादे, सरल उपाय भगवान् ने बताये हैं। वैसे केवल विद्वानों के काम आनेवाले दूसरे भी उपाय हैं, और भी मार्ग हैं, जिनमें एक है कर्मवाला वैदिक मार्ग—सतत कर्मनिष्ठा। इसका व्यावहारिक रूप कहा जा सकता है : 'आराम हराम है !' लेकिन साधारण मनुष्य इससे घबड़ा जाता है, भले ही पं० नेहरूजी जैसे असाधारण व्यक्ति रात में पाँच घण्टे निद्रा और दिन में एक घण्टा आराम—इस तरह लगातार १७-१८ घण्टे काम करके इस मार्ग का शान से अनुसरण कर दिखाते रहे हों। दूसरा मार्ग है, उपनिषद् का ध्यान-मार्ग, जिसका व्यावहारिक सूत्र कहा जा सकता है : 'लब ( जबान ) बन्द, चश्म ( आँख ) बन्द, गोश ( कान ) बन्द !' पर ऐसा ध्यान करना, आत्मा को आत्मा में लीन करना—ब्रह्मविद्या का यह मार्ग भी बड़ा कठिन है। वैसे बाबा का 'गोश' तो बन्द हो ही गया। आँख चली जाय तो दूसरा भी बन्द हो जायगा। फिर गूँगा बन जाऊँ तो तीसरा भी आसानी से बन्द हो जाय। मतलब यह कि यह मार्ग भी बड़ा ही कठिन है। उपनिषद् ने कहा है :

**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,**
**दुर्गं पथः तत् कवयो वदन्ति।**

अर्थात् सत्य का मार्ग कैसा है, तो क्रान्तदर्शी लोग बताते हैं कि वह उस्तरे की धार जैसा बड़ा कठिन, बड़ा दुर्गम मार्ग है। किन्तु ये दोनों मार्ग भागवत-धर्म नहीं। भागवत-धर्म तो प्रेमवाला मार्ग है और **अविदुषां पुंसाम्**—अज्ञानी लोगों के लिए बताया हुआ **अंजः**—सरल मार्ग है।

वह मार्ग और कैसा है ? तो कहते हैं :

**( २.३ ) यानास्थाय नरो राजन् ! न प्रमाद्येत कर्हिचित्।**
**धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥**

—११.२.३५.

**यान् आस्थाय**—जिन धर्मों का आश्रय लेकर। **न प्रमाद्येत कर्हिचित्**—कभी प्रमाद होगा ही नहीं। **धावन् निमील्य वा नेत्रे**—चाहे दौड़े

चले जाओ या आँखें बन्द कर। **न स्खलेत् न पतेत्**—न ठेस लगेगी, न गिरेगा।

यह ऐसा मार्ग है कि आँखें बन्द रखकर दौड़े चले जायँ, तो भी ठेस नहीं लगेगी, गिरेंगे नहीं। 'धाव्' यानी दौड़ना। संस्कृत के इस धातु पर से मराठी में 'धावणें' क्रियापद बना है। संस्कृत में दूसरा एक धातु है 'द्रु'। उस पर से हिन्दी में 'दौड़ना' क्रियापद बना है। इन धर्मों का आश्रय लेकर चलें तो कभी प्रमाद होगा ही नहीं। गलती होगी ही नहीं, क्योंकि गलती करेंगे तो उसे भी भगवान् को अर्पण करने के लिए कहा गया है। फिर गलती का डर ही क्या रहा? गलतियाँ करने की आपको पूरी इजाजत है। यह मार्ग ही ऐसा है, जो कुछ भी करें, सारा भगवान् को अर्पण कर देने के लिए कहता है।

**(२.४) कायेन वाचा मनसेंद्रियैर् वा**
**बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।**
**करोति यद् यत् सकलं परस्मै**
**नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥**

—११.२.३६.

**कायेन वाचा मनसा**—शरीर, वचन या मन से। **इंद्रियैः बुद्ध्या आत्मना वा**—अथवा इन्द्रियों से, बुद्धि से या आत्मा से। **अनुसृतस्वभावात् ( प्रकृतिस्वभावात् ) वा**—जो कुछ अपना स्वभाव हो, तदनुसार। **करोति यद् यत् सकलम्**—आप जो कुछ भी करें सब। **परस्मै नारायणाय इति तत् समर्पयेत्**—वह परमात्मा नारायण को समर्पण है; ऐसी भावना करके करें।

'गीता प्रवचन' के नवें अध्याय में एक कहानी है—कृष्णार्पण की। वह कहानी हमारी माँ ने हमें बचपन में सुनायी थी। एक बहन सब कुछ कृष्णार्पण किया करती थी। गाँव में एक कृष्ण-मन्दिर था। तो, वह जो भी कृष्णार्पण करती, सारा वहाँ की मूर्ति पर आ गिरता। उसने हाथ धोया और कह दिया : 'कृष्णार्पण', तो पानी मूर्ति पर पड़ा। घर लीपकर गोबर फेंका और कहा : 'कृष्णार्पण', तो गोबर मूर्ति पर लग गया। जब वह बहन मरी और भगवान् के दूत विमान ( हवाई जहाज ) लेकर उसे ले जाने के लिए आये, तो वह बोली : 'कृष्णार्पण'। तो, वह

विमान एकदम उस मूर्ति पर टूट पड़ा और मूर्ति खण्डित हो गयी। लोगों ने पूछा : 'यह क्या हुआ ?' तो पुजारीजी बोले : 'एक स्त्री है, जो हर बात कृष्णार्पण करती है। उसीका यह सारा तमाशा है।'

सार यह कि जो भी करें, उसे भगवान् को अर्पण करें। अपने कर्मों का नियमन करने की जरूरत नहीं। शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों या बुद्धि से जो भी कर्म करें, **सकलं परस्मै नारायणाय !**

यह भागवत-धर्म की चतुराई है, क्योंकि जहाँ मनुष्य भगवान् को अर्पण करने का खयाल करेगा, वहाँ उससे गलत काम होना संभव ही नहीं। जान-बूझकर कोई खराब काम करने जायगा, तो भगवान् को अर्पण करने की बुद्धि ही उसे पैदा नहीं होगी। भगवान् को अर्पण करने की बात याद आते ही ग़लत काम रुक जायगा। यह खूबी है इसमें ! यह हो सकता है कि यह बुरा काम है, इसकी पहचान ही न हो, और उसे कर ले। लेकिन जान-बूझकर जिसे वह खुद बुरा मानता है, उसे करते चला जाय और कहे कि 'मैं भगवान् को अर्पण करता हूँ' तो वह हो नहीं सकता। मतलब यह कि भगवत्-स्मरण के साथ बुरा काम टल जाता और अच्छा काम सहज बनता है। उसमें कठिनाई नहीं रहती।

यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है। बहुतों के कंठ में होता है, लेकिन थोड़ा फरक करके बोलते हैं :

**करोमि यद्‌यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयामि।**

इस तरह 'करोति' के बदले 'करोमि' बोलते हैं। व्यक्तिगत समर्पण करना है, इसलिए प्रथम पुरुष कर लेते हैं। गीता में भी यह विषय आया है :

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥**

एक ही चीज है, लेकिन इसे इन्होंने नाम दिया है—भागवत-धर्म, भगवान् की भक्ति का सरल मार्ग।

**( २.५ ) भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्**
**ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।**
**तन्माययाऽतो बुध आभजेत् तं**
**भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥**

—११.२.३७.

इस श्लोक में भय की मीमांसा ( विचार ) की है। भय कैसे पैदा होता है, तो कहते हैं : **द्वितीयाभिनिवेशतः भयं स्यात्**—अर्थात् 'द्वितीय-भावना से भय होता है।' हमसे भिन्न कोई दूसरा है, हम एक और वह दूसरा, ऐसी भावना से भय होता है। बच्चे अपनी परछाई से डरते हैं, क्योंकि उनकी भावना होती है कि वह छाया कोई दूसरी चीज है। उसे देखकर वे समझते हैं कि हमारे पीछे कोई लगा है। यही 'द्वितीयाभि-निवेश' है। भागवतकार कहना चाहते हैं कि 'दुनिया में हमसे भिन्न कोई है ही नहीं, यह पहचानें तो भय रहेगा ही नहीं।'

'दुनिया में हम ही हम हैं, दूसरा कोई नहीं'—ऐसी भावना होना तो बड़ा कठिन है। यह तो अद्वैत हो गया। अद्वैत सिद्ध होने पर भय समाप्त हो जायगा, यह तो स्पष्ट ही है। फिर भी उसके लिए उपाय बताया जाय। पर वह उपाय भय-निवारण से भी कठिन हो तो किस काम का ? इसलिए मेरा सुझाव है कि 'द्वितीय'-भावना छोड़ नहीं सकते, तो जो दूसरे हैं, उनसे प्रेम करना सीखो। 'द्वितीय'-भावना से भय पैदा होता है, पर यदि वह 'द्वितीय' हमारा प्रेमी हो, तो भय न होगा। उसे हम अपना प्रेमी बनायें, तो भी भय मिट जायगा।

'द्वितीय'-भावना किसे होती है ? **ईशाद् अपेतस्य**—जो अपने को परमेश्वर से विमुख मानता है। जिसे मालूम है कि परमेश्वर के साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वह शेर है। जिसे परमेश्वर से अलगाव मालूम होता है, जो परमेश्वर से दूर हो गया है, उसे **विपर्ययः अस्मृतिः**—विपरीत-भावना और अस्मृति होती है। उसे आत्मा का भान नहीं रहता, वह अपना भान भूल जाता है। मनुष्य जब तक अपना भान रखेगा, उसकी प्रतिष्ठा बनी रहेगी। उसके कारण वह नीतिमार्ग पर चलेगा। लेकिन जहाँ मनुष्य अपना भान भूल जाता है, वहाँ क्या होगा ? शराब पिये आदमी का क्या होता है ? शराब पीने में मुख्य खराबी यही है कि उससे आदमी अपने को भूल जाता है। उसे यह भी याद नहीं रहता कि यह मेरी बहन है या पत्नी है। इस तरह जिससे स्मरण-शक्ति पर ही प्रहार हो, उसे बहुत ही बुरा व्यसन मानना चाहिए। तो, जिसे आत्मा की स्मृति नहीं, वह प्रतिष्ठा खोयेगा। फिर उसे विपरीत भावना होगी, भय पैदा होगा।

भागवतकार आगे बताते हैं : **तन्मायया**—भगवान् की माया सर्वदा

छायी हुई है। उसीके कारण यह सारा फंदा बनता है और उसमें आदमी फँस जाता है। इसलिए क्या करना चाहिए, तो कहते हैं : **बुधः ऐक्या भक्त्या तम् ईशं आभजेत्**'—बुधजनों को एकाग्र-भक्ति से उस परमात्मा को भजना चाहिए।

कैसे भजेंगे, तो कहते हैं : **गुरुदेवतात्मा**—अपनी आत्मा, परमात्मा और गुरु—तीनों को एक समझकर। कहना यह चाहते हैं कि भगवान् के विषय में आत्मीय-भावना और गुरु-भावना करनी चाहिए। भगवान् तो हमारा स्वरूप ही हैं और हमारे गुरु भी हैं।

**ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।**

परमात्मा ने अपने को तीन मूर्तियों में बाँटा है। 'त्रिमूर्ति' कहने पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश याद आते हैं, लेकिन यह दूसरी त्रिमूर्ति है—'ईश्वरो गुरुरात्मेति।' ब्रह्मा, विष्णु, महेश तो ऊपर हैं। ब्रह्मा उत्पन्न करेगा, विष्णु पालन करेगा, तो रुद्र संहार। दुनिया में तीन शक्तियाँ काम कर रही हैं : उत्पादन-शक्ति, पालन-शक्ति और संहार-शक्ति। उनके अंश माने हुए ये तीन देवता हैं। पर यह त्रिमूर्ति अलग है। अभी हम जिस त्रिमूर्ति की बात करते हैं, वह है गुरु, परमात्मा और हम! तीनों एक हो जायँ।

यहाँ एक सवाल पैदा होता है। हम स्वयं को तो जानते हैं। परमेश्वर को भी कल्पना से जान सकते हैं। लेकिन गुरु न मिले तो क्या करें? गुरु तो अनुभवी होता है। गुरु यानी जिसे अनुभव हो। यदि वैसा अनुभवी गुरु न मिले तो क्या करें? गोरखनाथ को गुरु मिले मच्छीन्द्रनाथ। विवेकानन्द को गुरु मिले रामकृष्ण परमहंस। लेकिन गुरु मिलें ही नहीं, तो क्या करेंगे?

इसके लिए सिखों ने एक उपाय, एक युक्ति खोज निकाली। भक्तों का पुराना ग्रन्थ हो, तो उसीको गुरु मानें। ईसामसीह को ही लीजिये। जिन्होंने उन्हें देखा, उनके वे गुरु हुए। पर हमें देखने को नहीं मिले तो क्या किया जाय? ईसामसीह की 'बाइबिल' को ही गुरु मान लें। भगवान् कृष्ण हमें मिलनेवाले नहीं, तो 'गीता' को ही गुरु मान लिया जाय। 'ग्रन्थ को ही गुरु मानो'—कहकर सिखों ने यह मार्ग खोल दिया।

फिर सवाल आयेगा कि ग्रन्थ को पढ़े बिना गुरु कैसे मानें? यह तो

अजीब बात होगी, इसलिए पहले ग्रन्थ पढ़ना चाहिए। फिर उस ग्रन्थ में ऐसी कोई बात हो, जो विचार और विवेक को पसंद न पड़े तो क्या किया जाय? इसलिए हमने युक्ति निकाली कि ग्रन्थ का सार निकाल लो। भागवत इतना बड़ा ग्रन्थ और उसमें अनेक प्रकार की चीजें पड़ी हैं। वह सारा बोझ सिर पर कौन उठायेगा? इसलिए उसमें से सार निकालो।

इसमें भी यह सवाल आयेगा कि ग्रन्थ का सार जिसने निकाला, वह अक्लवाला है या बेवकूफ? यदि कोई श्रद्धेय व्यक्ति हो और वह उसका सार निकाले तो उसे गुरु मानो।

लेकिन इससे भी बढ़िया एक युक्ति है, जो सबसे बढ़कर है। वह यह कि जहाँ कोई गुण दीखे, उसे उतने गुण के लिए गुरु मानो, और बातों के लिए नहीं। जैसे विषय-विशेष का प्रोफेसर उस विषय के लिए गुरु होता है, वैसे ही जिस मनुष्य में जो गुण हो, उस गुण के लिए उसे गुरु मानो। इसीका नाम है 'गुण-गुरु'। इस प्रकार की आदत पड़ जाय तो हर मनुष्य में कोई-न-कोई गुण मिलेगा। वह गुण देखें और गुरु-भावना रखें। गुण ही गुण देखें, दोष नहीं। यह कला हाथ में आ जाय, तो जगह-जगह हमें एक-एक गुण के लिए एक-एक गुरु मिल जायगा।

सारांश, जो ईश्वर से अलग है, उसे भय होता है। 'द्वितीय'-भावना होती है, स्मरण-हानि होती है। इसलिए हमें भक्ति सीखनी चाहिए। हम गुरु, परमात्मा और आत्मा को एक मानकर परमात्मा की भक्ति करें। उस भक्ति से स्मरण-शक्ति तीव्र होगी, दुनिया के साथ प्रेम बनेगा और भय का निवारण होगा।

**(२.६) अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो**
**ध्यातुर् धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।**
**तत् कर्म-संकल्प-विकल्पकं मनो**
**बुधो निरुंध्यात् अभयं ततः स्यात्॥**

—११.२.३८.

**अविद्यमानः**—वह नहीं है। **अपि**—फिर भी। **अवभाति**—भासित होता है। **द्वयोः**—द्वैत।

वास्तव में द्वैत है ही नहीं, फिर भी वह भासमान होता है। **द्वैत है**

नहीं, लेकिन 'अपने से अलग दूसरा कोई है ही नहीं'—यह बात कोई नहीं मानता। फिर भी यदि इतना स्वीकार करें कि हमारा हित किसीके हित के विरुद्ध नहीं है, तो भी भागवत की पकड़ में आ जायँगे, उसके जाल में फँस जायँगे। यदि इतना मानेंगे कि हम सबका हित एक-दूसरे के हित में है, दूसरे के हित के विरुद्ध नहीं है, तो शोषण ( एक्सप्लायटेशन ) खतम हो जायगा। यही उद्देश्य है।

एक का हित दूसरे के हित के अविरुद्ध मानना कठिन नहीं। एक परिवार में अनेक लोग होते हैं। कई व्यक्तियों को मताधिकार होता है और हरएक का अलग-अलग मत रहता है। बिहार में तो हमने बड़ा मजा देखा। बड़े-बड़े परिवार होते हैं और एक ही परिवार में एक लड़का कांग्रेसी, दूसरा कम्युनिस्ट, तीसरा सोशलिस्ट, चौथा जनसंघी, तो पाँचवाँ सर्वोदयवाला होता है। यद्यपि घरवालों में इस प्रकार मतभेद होते हैं, लोग-भिन्न-भिन्न पार्टियों के होते हैं, फिर भी घर में सब इकट्ठे रहते हैं। वे मानते हैं कि हमारे बीच किसीका हित किसीके विरोध में नहीं है, हमारा घर एक ही है। जिस प्रकार घरवाले समझते हैं कि हमारा सम्मिलित हित है, हित-विरोध नहीं है, उस प्रकार भी हम समझ सकें तो बहुत हो जायगा। हम ग्रामदान वगैरह विचार समझाते समय यही बताते हैं कि अपना सारा गाँव एक परिवार समझो और एक-दूसरे के हित को अच्छी तरह सुरक्षित रखो, तो तुम्हारा भला होगा। 'मुझसे भिन्न कोई है ही नहीं'—यह भावना पैदा होना तो बहुत बड़ी बात है। वह भी होगी, किन्तु प्रथम सम्मिलित हित की भावना बने। उसके बाद धीरे-धीरे वह भी बन जायगी।

यह भासमान द्वैत कैसा है? यह बतलाते हैं। **ध्यातुः धिया**—कल्पना करनेवाले की बुद्धि से। **स्वप्नमनोरथौ यथा**—जैसे स्वप्न और मनोरथ होते हैं।

स्वप्न में अनेक प्रकार के भेद हुआ करते हैं, पर वे सही नहीं होते। जाग जाने पर पता चलता है कि वह सब मिथ्या था, कुछ था ही नहीं। मनोरथों के भी अनेक प्रकार होते हैं। तरह-तरह की कल्पनाएँ होती हैं, लेकिन उनके समाप्त होते ही पता चलता है कि वह सारा कल्पनामात्र था। वैसे ही हमने जो भेद मान रखे हैं, द्वैत मान रखा है, वह वस्तुतः है ही नहीं।

भेद है ही नहीं, इसका प्रमाण चाहते हो, तो श्मशान में मिलेगा। वैसे तो लोग श्मशान भी अलग-अलग बनाते हैं—हिन्दुओं का अलग, सिखों का अलग, पारसियों का अलग। इस तरह भले ही अलग-अलग श्मशान बनाओ, लेकिन इतना पक्का समझ लो कि आखिर सब खाक ही बनता है। खाक में कोई भेद है नहीं। आप पहचान न सकेंगे कि यह बाबा की खाक है या व्यासजी की, बिलकुल अद्वैत है। वहाँ एकता सिद्ध हो जाती है। हम कितना भी भेद मानें, आखिर सब खाक होनेवाला है, इसमें शक नहीं। इसलिए सारे भेद मिटा देने चाहिए।

इसके लिए हमें क्या करना होगा, तो कहते हैं : **तत्**—इसलिए। **कर्म-संकल्प-विकल्पकं मनः**—जिसके संकल्प-विकल्प के कारण कर्म होते हैं, उस मन का **बुधो निरुंध्यात्**—बुधजन निरोध करें।

मन में अनेक प्रकार के संकल्प और विकल्प आते हैं। उन भले-बुरे संकल्प-विकल्पों के वश होकर मनुष्य भले-बुरे काम कर बैठता है। तो, जिस मन में ये सारी चीजें आती हैं, उसीका निरोध करें। यह मन ही अनेक प्रकार के भेद पैदा करता है। इसलिए मन को ही काबू में रख लें।

प्रायः लोग कहते हैं कि हम अपने मन के मुताबिक काम करेंगे। एक मित्र दूसरे मित्र से कहा करता है कि 'मैं तेरी नहीं मानूँगा, अपने मन के अनुसार चलूँगा।' यानी अपने मित्र की नहीं, अपने गुलाम मन को बात मानने को राजी है। मन तो आपका गुलाम है और आप हैं उसके मालिक। यह तो यही हुआ कि एक मालिक कहे कि 'मैं अपने नौकर की मानूँगा।' वास्तव में नौकर को तो अपने हाथ में रखना चाहिए, पर लोग नौकर के ही गुलाम बनते हैं। इसलिए जो कहते हैं कि हम स्वातन्त्र्यवादी हैं, वे असल में स्वातन्त्र्यवादी नहीं, मन के गुलाम हैं। जब वे मन से अलग होकर सोचेंगे, तभी स्वतन्त्र होंगे। ये सारे भेद कौन पैदा करता है? मन ही न? अतः बुद्धिमान् मनुष्य का काम है कि वह अपने मन पर काबू रखे, मन का निग्रह करे।

**अभयं ततः स्यात्**—फिर वह निर्भय हो जायगा। यह बात तो आरंभ में ही बता दी है :

**मन्येऽकुतश्चित् भयमच्युतस्य पादांबुजोपासनमत्र नित्यम्।**

उसे दुनिया में कोई भय ही नहीं रहेगा। दुनिया से सारा विरोध मिट जायगा। कोई किसीसे विरोध नहीं करेगा।

हम कई दफा दो मिसालें दिया करते हैं। हमारे अलग-अलग अवयव हैं—मुँह है, हाथ हैं, पेट है। ये सब कितने परोपकारी हैं! मेरे हाथ में लड्डू है। यदि हाथ स्वार्थी बने और कहे कि 'मैं लड्डू मुँह को नहीं दूँगा' तो क्या होगा? लेकिन हाथ लड्डू मुँह में डाल देता है। मुँह भी चबा-चबाकर उसे पेट में डाल देता है। वहाँ से उसका खून बनकर सारे अवयवों को पोषण मिलता है। पेट यह नहीं कहता कि 'मैं लड्डू का खून नहीं होने दूँगा और अपने पास ही रखूँगा।' वह ऐसा कहेगा, तो उससे उसे तकलीफ ही होगी। इसी तरह सब एक-दूसरे के लिए त्याग करते हैं, तब शरीर चलता है। दूसरी मिसाल है फुटबाल के खेल की। खेल में हम क्या करते हैं? गेंद जैसे ही मेरे पास आयी कि मैं उसे दूसरे के पास भेज देता हूँ। इसीलिए खेल चलता है। यदि मैं गेंद को अपने पास ही रख लूँ, तो खेल ही खतम हो जाय। समाज में भी ऐसा ही होना चाहिए। अपने पास कोई चीज आयी, तो तत्काल दूसरे के पास पहुँचा दी जाय। इस तरह समाज में जब संचलन (सरक्युलेशन) जारी रहेगा, तभी समाज सुन्दर रहेगा। बजाय इसके यदि हम अपने घर में संग्रह कर लेंगे, तो विरोध खड़ा होगा।

तो, निर्भयता के लिए यह मन्त्र दिया कि 'अपने मन का निरोध करो और सबके हित में मेरा हित है, किसीके हित के साथ मेरे हित का विरोध नहीं, यह समझ लो।'

## २. भक्त-लक्षण

### भक्तों के तीन प्रकार

इस ( तीसरे ) अध्याय के पहले तीन श्लोक ही खास महत्त्व रखते हैं। यहाँ भक्तों के तीन दर्जे किये गये हैं। इस तरह से भक्तों के दर्जे और कहीं किये गये नहीं दीखते।

**( ३.१ ) सर्व-भूतेषु यः पश्येत् भगवद्भावमात्मनः।**
**भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥**

—११.२.४५.

पहला वर्ग है सर्वोत्तम भक्त का। **भागवतोत्तमः** का अर्थ है उत्तम भक्त। उत्तम भक्त कौन होगा? **यः सर्वभूतेषु भगवद्भावम् आत्मनः पश्येत्**—जो सब भूतों में भगवान् को देखेगा और अपने को भी देखेगा। यहाँ दुगुना विचार कहा गया है : सब भूतों में भगवान् की भावना और अपनी भी भावना करना।

मित्र-मण्डली में अपनी भावना करना सरल है, किन्तु सब भूतों में अपने को देखना थोड़ा कठिन है। पर यहाँ कहा गया है कि सब भूतों में अपना ही दर्शन होना चाहिए। प्रथम अपना दर्शन और फिर भगवान् का दर्शन।

सोचने की बात है कि सब भूतों में अपने को देखना सरल है या भगवान् को देखना? भगवान् को देखना सरल लगता है, लेकिन यदि किसीकी भगवान् पर श्रद्धा न हो तो उसके लिए सब भूतों में अपने को देखना ही एक तरीका होगा। वैसे तो यह बात कठिन अवश्य है। माँ अपने बच्चे में अपने को देखती है, लेकिन दूसरे के बच्चों के लिए उसकी वह भावना नहीं रहती। इसलिए भगवान् की ज्योति सबमें है, यह मानना आसान लगता है। फिर भी उसके लिए ईश्वर पर श्रद्धा चाहिए।

वैसी श्रद्धा न हो तो सबमें अपनी भावना करना अधिक सरल होगा। यह नास्तिकों के लिए सहूलियत है।

फिर दूसरी बात बतायी : **भूतानि भगवति आत्मनि एषः पश्येत्**—भक्त सब भूतों को भगवान् में, अपने में भी देखता है। यानी सब ओतप्रोत है। मतलब यह कि भगवान् में प्राणिमात्र हैं और प्राणिमात्र में भगवान् हैं। हममें सब भूत हैं और सब भूतों में हम हैं—ये चार बातें समझा दीं।

वैसे देखा जाय तो दुनिया में अनेक भेद हैं, लेकिन जड़, चेतन और परमात्मा, ये प्रमुख भेद हैं। उनमें भी अवान्तर भेद हैं। जड़ यानी सारी अचेतन सृष्टि। सृष्टि में पत्थर, पानी, पेड़, पहाड़, ये सारे भेद पड़े हैं। घड़ी, कुर्सी, चश्मा, ये भेद भी हैं। एक का काम दूसरी वस्तु नहीं कर पाती। इसी तरह चेतन-चेतन में भी भेद है। मनुष्य अलग और गदहा अलग। यही क्यों, मनुष्य-मनुष्य में भी भेद है। जैसे परमेश्वर और जड़ में भेद होता है, वैसे ही परमेश्वर और चेतन में भी है। तो, कुल मिलाकर पाँच प्रकार के भेद हुए : १. जड़-चेतन, २. जड़-जड़, ३. चेतन-चेतन, ४. परमेश्वर-जड़ और ५. परमेश्वर-चेतन। किन्तु भागवत ये सारे भेद खतम करने की बात कह रही है। इन पाँचों भेदों में जो अभेद देखेगा, वही उत्तीर्ण होगा। वह 'भागवतोत्तमः' होगा यानी उत्तम भक्त होगा। प्रथम श्रेणी का, पहले दर्जे का भक्त होगा। इस तरह की आशा रखना तो ठीक ही है।

(३.२) **ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।**
**प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥**

—११.२.४६.

यह है द्वितीय श्रेणी का—दूसरे दर्ज का भक्त! **ईश्वरे**—ईश्वर में। **तदधीनेषु**—ईश्वर के भक्तों में। **बालिशेषु**—सामान्य मूढजनों में। **द्विषत्सु**—हमसे द्वेष-दुश्मनी करनेवालों में। **यः**—जो। **प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा**—क्रमशः प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा। **करोति**—करता है। **स मध्यमः**—वह मध्यम कोटि का यानी द्वितीय श्रेणी का भक्त कहा गया है।

इस तरह यहाँ १. परमेश्वर २. परमेश्वर के भक्त, ३. मूढजन और

४. दुश्मनी करनेवाले—ऐसे चार वर्ग बताये। भक्त इन चारों के साथ चार प्रकार के व्यवहार करता है, यानी उसके व्यवहार में कुछ भेद है। उसके चित्त में परमेश्वर के लिए प्रेम होगा। सारा प्रेम उसने परमेश्वर के लिए ही इकट्ठा किया है। प्रेम का ईश्वर के लिए समर्पण ही उसका निर्णय है। फिर, ईश्वर के जो भक्त हैं, उनके साथ वह मैत्री करता है, यानी उनका 'फ्रैण्ड यूनिट' होता है। 'मैत्री' शब्द ईसाइयों में बहुत प्रचलित है। उनमें 'मैत्री-संघ', 'मित्र-संघ' इस तरह के संघ हुआ करते हैं। फिर जो मूढजन हैं, उनके लिए उसके मन में कृपा यानी करुणा होती है और जो दुश्मनी करते हैं, उनके लिए उपेक्षा। कौन दुश्मन है, यह हम नहीं जानते। लेकिन यदि कोई दुश्मनी करता है, तो भक्त उसकी उपेक्षा करेगा। यानी उसकी ओर ध्यान नहीं देगा। इस प्रकार की भावना करनेवाला नम्बर दो का भक्त होगा।

भगवान् बुद्ध ने भक्त की जो कल्पना की थी, वही यह है। किन्तु उन्होंने सर्वोत्तम भक्त की यह कल्पना की, जब कि भागवत के अनुसार वह नम्बर दो में आता है। भगवान् बुद्ध ने भी कहा था कि भक्त को चार प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। गौतम बुद्ध ने ४० दिन उपवास किये थे। ईसा और मूसा ने भी ४० उपवास किये। शायद यह प्रथा गौतम बुद्ध से ही आयी हो। मुझे वेद में भी इस अर्थ के कुछ वचन मिले हैं, जिनमें ४० उपवासों की बात कही गयी है। लेकिन वह मेरा खास अर्थ है। गौतम बुद्ध ने ४० दिनों के उपवास के अन्त में जब आँखें खोलीं तो उन्हें एक दिशा में मैत्री का दर्शन हुआ, दूसरी दिशा में करुणा का, तीसरी में प्रेम का तो चौथी दिशा में उपेक्षा का दर्शन हुआ। तब से वे ये चार भावनाएँ समझाने लगे। पर भागवत कहती है कि जो ऐसी भावना करेगा, वह नम्बर दो का भक्त होगा; क्योंकि उसमें एक ईश्वर, एक भक्त, एक मूढ़ और एक दुश्मन, ऐसी पहचान है अर्थात् भेदबुद्धि या विवेक है। पर नम्बर एक के भक्त में यह पहचान भी नहीं होती।

पतञ्जलि ने 'योगसूत्र' में यह कहकर कि 'चार प्रकार की भावना करोगे तो चित्त प्रसन्न रहेगा'—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा--ये चार प्रकार बताये हैं। दुःखी जनों के लिए करुणा, सुखी जनों के साथ मैत्री, पुण्यवानों को देखकर आनन्द या प्रेम और पापियों की उपेक्षा यानी दूसरों के पाप की तरफ ध्यान न देना। सारांश, सुख, दुःख, पाप,

पुण्य,—ये चार विषय बताकर उनके लिए चार प्रकार की भावनाएँ करने पर चित्त प्रसन्न होगा, यह पतञ्जलि का मत है। यही भाव उन्होंने निम्नलिखित रूप में सूत्रबद्ध किया है :

**मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्यापुण्य-**
**विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।**

—योगसूत्र १.३३

ये ही चार बातें भागवत में कही गयी हैं, लेकिन उनमें थोड़ा फरक है। वहाँ ईश्वर के लिए प्रेम बताया गया है। पुण्यवान् का अर्थ ईश्वर भी हो सकता है, लेकिन यहाँ वैसा नहीं है। भागवत के इस श्लोक में ईश्वर और उसके भक्त दोनों में भेद है, यह स्पष्ट कर दिया है।

( ३.३ ) **अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।**
**न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥**

—११.२.४७

यह है तीसरे दर्जे का भक्त!

**अर्चायाम्**—मूर्ति में, चिह्न में या मन्त्र में। **हरये पूजनं यः श्रद्धया ईहते**—श्रद्धा रखकर भगवान् की पूजा करना चाहता है। **तद्भक्तेषु च अन्येषु न**—भगवान् के भक्तों और अन्य लोगों की वैसी श्रद्धा से पूजा करना नहीं चाहता। **स प्राकृतः भक्तः स्मृतः**—वह प्राकृत, सर्वसाधारण, तीसरे दर्जे का भक्त कहा गया है।

सिख लोग 'ग्रन्थ' ( गुरुग्रन्थ साहिब ) पर श्रद्धा रखते और मानते हैं कि उसमें से प्रकाश मिलता है। कोई मन्त्र पर श्रद्धा रखते हैं। किसीकी ॐकार या स्वस्तिक के चिह्न पर श्रद्धा होती है। इस तरह अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार ये भक्ति करते हैं, लेकिन भगवान् के भक्तों की पूजा नहीं करते। इसका मतलब यह नहीं कि उनके लिए आदर नहीं रखते। आदर रखते हैं, पर मानते हैं कि जो कुछ है, वह सब मूर्ति में ही है, बाकी सब शून्य है। क्योंकि भगवान् के भक्त कैसे पहचाने जायँगे? उनके मन में क्या-क्या है, यह कैसे पता चलेगा? इसलिए मूर्ति, चिह्न मन्त्र या ग्रन्थ पर उनकी श्रद्धा होती है। इस प्रकार के भक्तों को 'प्राकृत भक्त' कहा गया है। यानी तीसरे दर्जे का भक्त! इसमें सब उत्तीर्ण हो सकते हैं। बात इतनी ही है कि श्रद्धा होनी चाहिए।

इसके बाद भक्तों का चौथा दर्जा भगवान् के पास नहीं है। इसीलिए भगवान् ने यह आखिरी दर्जा दिया और कहा है कि तुम मूर्ति की पूजा करो तो भी चल जायगा।

लेकिन तुकाराम महाराज ने उलटा ही कहा है :

**देव सारावे परते। संत पूजावे आरते ॥**

'परते' यानी उस पार, 'आरते' यानी इस पार। भगवान् की मूर्ति को दूर करो और प्रथम संतों की पूजा करो। मतलब यह कि आपके घर में कोई संत आया और आप भगवान् की मूर्ति की पूजा में लगे हों, तो उसे छोड़कर पहले संत की पूजा करें। मूर्ति-पूजा अलग रखकर संत की पूजा करने लगेंगे, तो जरा ऊपर उठेंगे—यह तुकाराम के इस वचन में खूबी है। वे कहते हैं कि जरा आधी डिग्री तो ऊपर उठो।

सवाल आता है कि संत कैसे पहचाना जाय? मूर्ति के बारे में तो यह सवाल पैदा ही नहीं होता। वहाँ चित्त डाँवाडोल नहीं होता, शत-प्रतिशत श्रद्धा होती है। किन्तु कोई संत आता है, तो तुरन्त सवाल पैदा होता है कि वह संत है या नहीं? संतों की परीक्षा करें, तो आपको वह अधिकार नहीं। यानी बिना परीक्षा किये ही उनका आदर करना होगा। कहने का अर्थ इतना ही है कि लोग जिसे 'सज्जन' मानते हैं, उन्हें हम नम्रतापूर्वक सज्जन मानें। पत्थर की मूर्ति जैसी हो, वैसी स्वीकार करके श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं। इसी तरह हमें भी श्रद्धापूर्वक बिना परीक्षा किये संतों की पूजा करनी चाहिए। फिर इसके लिए मूर्ति की पूजा अलग रखनी पड़े, तो भी हर्ज नहीं। इससे भगवान् नाराज नहीं होंगे।

भक्तों का इस तरह का वर्णन गीता में नहीं मिलता। सब भूतों में भगवान् को देखो, यह बात गीता में है, लेकिन भक्तों के ये तीन दर्जे वहाँ नहीं मिलते।

भक्तों के ये जो दर्जे बताये हैं, उनका क्या अर्थ है? क्या उनमें मान-सम्मान की बात है? ऐसा नहीं। हमारे लिए सहूलियत मात्र कर दी गयी, इतनी ही बात है। एक के बाद एक सीढ़ी बतायी है, ताकि हम आगे बढ़ सकें। इससे चित्त एकाग्र करने में कठिनाई नहीं होगी। जिस पर श्रद्धा हो, उस पर चित्त एकाग्र होता है, इसलिए पहले वह बात

बतायी। फिर चार प्रकार की भावनाएँ बतायीं। यह उससे आगे का कदम हुआ। फिर उत्तम भक्त तक पहुँचने के लिए रास्ता बताया। मतलब यही कि यदि आप इस रास्ते से जाते हैं, तो अपने ध्येय तक पहुँच सकते हैं।

देखने में ऐसा लगता है कि भक्तों का दूसरा दर्जा कठिन नहीं है। किन्तु वह भी सरल बात नहीं है। उसमें ईश्वर को प्रेम देने की बात कही है। इस पर सवाल आयेगा कि हमारे जो निकट सम्बन्धी हैं, उनके लिए प्रेम होना चाहिए या नहीं ? सच पूछें तो हमारा प्रेम उन्हींमें बँटा हुआ है। किन्तु वहाँ हमें आसक्ति है। तो, पहले वह आसक्ति हटानी पड़ेगी। मतलब यह कि जिस पर हमारा प्रेम है, उसे ईश्वर की भावना से देखा जाय।

इसके लिए क्या करना होगा ? उस व्यक्ति की सेवा करनी होगी। सेवा लेनी नहीं होगी। सेवा लेते हैं, तो हम भोग रहे हैं, ऐसा होगा। भोग भोगना प्रेम नहीं। दूसरी बात, सम्बन्धियों, रिश्तेदारों पर हक माना जाता है। हक की यह भावना भी हटानी होगी। पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदि रिश्तों में कामना का अंश होता है। इसलिए वह प्रेम भक्ति में मान्य नहीं। निष्काम प्रेम ही भक्ति को मान्य होता है। मित्र समान-शील होते हैं, एक साथ खेलते हैं, उनमें मैत्री होती है, प्रेम बनता है। वैसा ही यहाँ कहा है कि भक्तों के साथ हमें मैत्री करनी चाहिए। मैत्री के लिए क्या करना होगा ? आदर-सत्कार की बात अलग है और मैत्री जरा कठिन है। भक्तों के साथ मैत्री करनी है, तो हमें भी भक्त बनना पड़ेगा।

सामान्य मूढ़जनों के लिए चित्त में करुणा आनी चाहिए। उनके लिए तिरस्कार न हो। मन में दूरीभाव न होना, प्रतीकार न करना, कुछ टेढ़ी बात मालूम होती है। पर ईसा ने तो इससे भी टेढ़ी बात कही है। वह कहता है : **लव् दाय एनिमी**—शत्रु पर प्यार करो। तुम उससे द्वेष करते हो, तो द्वेष से द्वेष बढ़ेगा, कम नहीं होगा। द्वेष के विरोध में तो प्रेम ही चाहिए। पूर्ण प्रेम करो। दुश्मनों पर भी प्रेम करो। ईसा ने यह एक विधायक ( पॉजिटिव ) बात कही, केवल निषेधक ( निगेटिव ) नहीं। जिसने आप पर अपकार किया है, मौका देखकर उसका भला करो, तब उसका हृदय जीता जा सकेगा। किसीने गलत

काम किया हो, तो उसका प्रभाव अपने पर न होने दें, यह बात कुछ आसान है। लेकिन ईसा विधायक ( पॉजिटिव ) बात कहता है कि हम अपने ऊपर असर होने दें। ऐसा असर हो कि हम अधिक प्रेम करने लगें।

मुझे लगा कि यह बात जरा साफ होनी चाहिए, क्योंकि द्वितीय श्रेणी में सफर करनी है, तो उसके लिए कितना खर्चा पड़ेगा, यह भी तो देख लेना होगा। उतने पैसे हमारी जेब में हों, तभी द्वितीय श्रेणी में सफर कर सकेंगे, नहीं तो तृतीय श्रेणी है ही।

फिर तीसरे दर्जे की बात जो बतायी है कि मूर्ति, मन्त्र, चिह्न, पुस्तक आदि के लिए विशेष भाव है, पर प्रत्यक्ष भक्त आ जाय तो उस पर कोई परिणाम नहीं होता, वह आरम्भमात्र है। बच्चों को सिखाते समय चित्र दिखाते हैं, वैसा ही वह केवल आरम्भ है। कुछ लोगों का सवाल है कि तीसरे वर्ग में जो कहा गया है, उसका स्थान मुहम्मद पैगम्बर ने नहीं माना। किन्तु "मुसलमानों की 'कुरान' पर बहुत निष्ठा होती है"। यह उसीका एक प्रकार है। यह ठीक है कि इसका जितना स्थूलरूप अपने यहाँ है, उतना उनमें नहीं है, सूक्ष्म है। किन्तु मूर्तिपूजा देहधारी के लिए टल नहीं सकती। उसके प्रकार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

यह प्रकार आरम्भ में होता है, इसलिए इसको नाम दिया है 'प्राकृत' यानी पामर। एक प्रकार से निषेध किया है और एक तरह से स्वीकृति भी दी है।* यानी दोनों को इकट्ठा कर लिया है, यह भागवत की खूबी है। इससे भागवत यही कहना चाहती है कि जल्दी-से-जल्दी दूसरे दर्जे में आ जायँ, तो अच्छा।

### उत्तम भक्त के लक्षण

तीन प्रकार के भक्तों का वर्णन हो गया। अब भगवान् उनमें से उत्तम भक्त के विशेष लक्षण बता रहे हैं :

( ३.४ ) गृहीत्वाऽपींद्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर् मायां-इदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥
—११.२.४८.

---

* प्राकृत = पामर या प्रकृतिसिद्ध। पहले अर्थ से निषेध स्पष्ट है। प्रकृतिसिद्ध होने से टाला नहीं जा सकता, इसलिए स्वीकृति भी।—सं०

जो इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करते हुए भी चित्त में हर्ष और द्वेष पैदा होने नहीं देता, उसे उत्तम भक्त मानना चाहिए। अनुकूल विषयों से प्रसन्नता और प्रतिकूल विषयों से खेद, यह वह नहीं जानता। वह समझता है कि अनुकूल-प्रतिकूल सभी विषय विष्णु की माया है। एक कहेगा 'तरकारी में नमक अधिक है,' तो दूसरा कहेगा 'फीका है।' यह सारा इन्द्रियों की आदत पर निर्भर है। इसीलिए आश्रम में हम लोग तरकारी में नमक डालते ही नहीं थे। जिसे चाहिए, वह ऊपर से ले लेता था। आखिर तय किया कि नमक की आवश्यकता ही नहीं और उसका उपयोग ही छोड़ दिया। बन्दर तरकारी तोड़-तोड़कर खाते हैं, तो कहाँ नमक की राह देखते हैं? मतलब, यह सारा इन्द्रियों की आदत पर निर्भर है। भगवान् कहते हैं कि इसलिए हर्ष-खेद से दूर रहो। हमें धीरे-धीरे उत्तम भक्त के दर्जे में ले जाने का भगवान् का यह तरीका है।

**( ३.५ ) देहेंद्रिय-प्राण-मनो-धियां यो**
**जन्माप्यय-क्षुद्-भय-तर्ष-कृच्छ्रैः ।**
**संसारधर्मैर् अविमुह्यमानः**
**स्मृत्या हरेर् भागवतप्रधानः ॥**

—११.२.४९.

**स्मृत्या हरेः भागवतप्रधानः**—भगवान् के भक्त को हरि का स्मरण हमेशा रहता है। इसलिए **संसारधर्मैः अविमुह्यमानः**—वह संसार-धर्मों से मोहित नहीं होता। यानी संसार-धर्मों का उस पर असर नहीं पड़ता। उसने एक बख्तर पहन लिया है। कौन-सा? **'स्मृत्या हरेः'**—हरि का स्मरण।

जन्म और अप्ययन यानी मरण संसार-धर्म हैं। कुछ लोग बाबा को सालों तक पत्र नहीं लिखते। लेकिन तीन प्रसंगों पर उनके पत्र अवश्य आते हैं—किसीकी मृत्यु पर, जन्म पर और शादी पर। जन्म हुआ तो सब प्रसन्न होते हैं, मृत्यु पर रोने लगते हैं। ज्ञानदेव महाराज ने वर्णन किया है कि लड़का पैदा होता है, तो वह बेचारा रोता है, लेकिन बाकी सारे खुशी मनाते हैं!

यह निश्चित है कि जन्म-मृत्यु होना ही है, और वह होता है, तो उस समय रोना ही है। पर कहीं तो मैंने देखा कि मृत्यु पर किराये से

रोनेवाले बुलाते हैं। यानी वह एक विधि ही मानी गयी। शास्त्रकार तो कहता है कि 'कोई मर जाय और आप रोते हैं तो मरनेवाले की गति में बाधा आती है।' लेकिन कोई इसका खयाल नहीं करता। आत्मा की अमरता के विषय में हिन्दुस्तान में जितना प्रचार हुआ है, उतना कहीं नहीं, और मरने पर रोना-धोना भी यहीं सबसे अधिक चलता है। किन्तु जिसने हरि-स्मरणरूपी बख्तर पहन लिया है, उसे दुःख होता ही नहीं।

क्षुधा और तृषा भी संसार-धर्म बताये गये हैं। सामान्य मनुष्य क्षुधा-तृषा से पीड़ित होता है, पर उत्तम भक्त नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि उसे भूख ही नहीं लगती। उत्तम भक्त को भूख लगती है, प्यास भी लगती है, लेकिन क्षुधा-तृषा की भावना से वह अभिभूत नहीं होता। उसे भय भी नहीं रहता। भय की भावना सर्वत्र फैली हुई है। इसलिए भय को भगवान् ने संसार-धर्म बताया है। इन संसार-धर्मों का प्रभाव उत्तम भक्त पर नहीं होता, क्योंकि उसने हरि-स्मरण का बख्तर पहन लिया है।

ये धर्म किसके हैं? देह के और इन्द्रियों के भी। आत्मा के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं। फिर सवाल आयेगा कि ऐसा है, तो फिर दुःख क्यों करते हो? भय क्यों करते हो? भय है तो देह के साथ है, दुःख है तो मन के साथ, इन्द्रियों के साथ है। फिर तुम रोते क्यों हो? मतलब यह कि इन भावनाओं का प्रभाव नहीं होने देना चाहिए।

आज दुनिया में डर के कारण जुल्मी लोग अपना काम करवा लेते हैं। 'गीता-प्रवचन' में एक राक्षस की कहानी है। एक राक्षस ने एक मनुष्य को पकड़ लिया और उससे अखण्ड काम लेता रहा। मनुष्य जरा रुक जाता तो राक्षस कहता: 'काम कर, नहीं तो तुझे खा डालूँगा'। मनुष्य डर-डरकर काम करता रहा। आखिर एक दिन जब राक्षस ने 'खा डालूँगा' कहा, तो मनुष्य ने भी कहा: 'खा लो'। तब राक्षस चुप हो गया। उसके ध्यान में आ गया कि इसे खा लूँगा, तो काम करनेवाला कोई नहीं रहेगा। सारांश, मनुष्य जब तक डरता रहा, तभी तक उसे राक्षस के जुल्म के नीचे दबना पड़ा। इसलिए ध्यान में रखना चाहिए कि डर से हम कोई गलत काम न करें। इतने गंभीर दर्शन की पहचान न होगी, तो मानवता नीचे गिरेगी। आज पेट के लिए मनुष्य चाहे जो काम करने के लिए तैयार होता है। इससे मानवता नीचे गिरती है। लेकिन उत्तम भक्त ऐसा कभी नहीं करेगा।

**( ३.६ ) न-काम-कर्म-बीजानां यस्य चेतसि संभवः ।**
**वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥**

११.२.५०.

जिसने भगवान् को ही अपना घर बना लिया, वह उत्तम भक्त है। **वासुदेवैकनिलयः**—एकमात्र वासुदेव ही जिसका घर है। **यस्य चेतसि**—जिसके चित्त में। **काम-कर्म-बीजानाम्**—काम-वासना, कर्म का अहंकार और कामना के बीज। **न संभवः**—हैं ही नहीं। **स वै भागवतोत्तमः**—निश्चय ही वह उत्तम भक्त है। वासुदेव हो हमारे लिए एकमात्र आश्रय हैं, ऐसा जो सोचता है, वह उत्तम भक्त है।

जब तक मनुष्य अपने घर में रहता है, तब तक उसे विश्वास नहीं होता कि बाहर निकलने पर खाना मिल सकता है। लेकिन बाबा का अनुभव है कि एक बार बाहर निकल पड़ेंगे तो खाना तो मिलता ही है, दूसरी भी सारी व्यवस्थाएँ हो जाती हैं। यह बात किसीके ध्यान में नहीं आती। एक भाई बहुत सारे प्रदेश घूम आये। उन्हें लोगों ने पूछा कि 'सबसे कठिन घाटी कौन-सी है ?' तो बोले : 'सबसे कठिन घाटी देहली-घाटी है। एक बार घर की देहली को लाँघ लिया, तो फिर सब आसान है। उससे ऊँचो कोई घाटी है ही नहीं।'

बात यह है कि हम दूसरों पर प्रेम करेंगे, तो दूसरे भी हम पर प्रेम करेंगे। उत्तम भक्त के लिए वासुदेव ही वसति-स्थान है और उसके चित्त में काम-कर्म के बीज नहीं हैं, जिसके कारण मनुष्य घर से चिपका रहता है। ज्ञानदेव महाराज ने लिखा है : **हे विश्वचि माझें घर**—भक्त मानता है कि यह विश्व ही मेरा घर है।

**( ३.७ ) न यस्य जन्म-कर्मभ्यां न वर्णाश्रम-जातिभिः ।**
**सज्जतेऽस्मिन् अहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥**

—११.२.५१.

आज हिन्दुस्तान में वर्णाश्रम करीब-करीब समाप्त ही है। लेकिन—भागवत काल में यहाँ वर्णाश्रम-पद्धति अच्छी तरह चल रही थी। लोग अपने-अपने कर्तव्य करते थे। **स्वे-स्वेऽधिकारे या निष्ठा**—अपने-अपने अधिकार में निष्ठा रखते हुए लोग काम करते थे। व्यापारी ठीक व्यापार करता था। ग्राहकों को ठगता नहीं था। इसलिए व्यापारी भी परमेश्वर

के पास पहुँच सकता है, यह मान्यता थी। यह उस रचना की विशेषता थी। आज वह नहीं रही। उसमें ऊँच-नीच भाव आ गया और उसके गुण नहीं रहे।

इस श्लोक में कहा है कि अपने जन्म के कारण, कर्म के कारण या वर्ण-जाति के कारण भक्त के मन में अहंभाव पैदा नहीं होता। जब वर्णाश्रम अच्छी तरह चल रहा था, उस समय भी भगवान् ने इस तरह चेतावनी दी। भिन्न-भिन्न काम करते हैं, कर्म का विभाजन होता है, यह बुरा नहीं। लेकिन उसका अभिमान नहीं होना चाहिए, उसके कारण ऊँच-नीचभाव नहीं आना चाहिए। अच्छे काम का लोग गौरव करें तो उससे ऐसा भास न हो कि हमने कुछ किया। उस गौरव का चित्त पर असर न होने देना चाहिए।

अहंकार-मुक्ति के लिए दो-तीन ढंग से सोचा जा सकता है। एक है बचपन से आज तक माता-पिता और समाज का हम पर कितना उपकार हुआ और आज हम क्या कर रहे हैं, इसका विचार। इसका लेखा-जोखा लेने पर ध्यान में आयेगा कि हम पर दूसरों का जितना उपकार हुआ है, उस हिसाब से हम कुछ भी अदा नहीं कर सके हैं। अहंकार-मुक्ति का यह बिलकुल सीधा-सादा उपाय है। लेकिन भगवान् ने दूसरा भी उपाय बताया है। उसमें **'देहे'** ऐसा लिखा है। कहना यह चाहते हैं कि गुण-दोष जो हैं, वे देह के हैं। अपने को देह से अलग मान लें, निरहंकार बनें तो काम आसान हो जाता है। हम देह को अलग मानेंगे, तो अच्छे बुरे कर्मों का हम पर भार नहीं होगा। भक्त ऐसा भार कभी नहीं उठाता।

**देहे वै स हरेः प्रियः** के दो अर्थ हैं : एक, देह में इन चीजों का भार नहीं उठाता, उससे अलिप्त रहता है। दूसरा, वह मनुष्य देह में रहकर ही भगवान् को प्यारा है। हरि का आशीर्वाद जीते जी प्राप्त होना चाहिए। मरने के बाद वह भगवान् का प्रिय बनेगा, ऐसा नहीं। उसे इसी जीवन में हरि-स्पर्श का साक्षात् अनुभव आये। समाज में जो विषमताएँ पड़ी हैं, उन्हें वह मानें ही नहीं।

**( ३.८ ) न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।**
**सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥**

—११.२.५२.

जिसके मन में भिदा यानी भेद नहीं, वह उत्तम भक्त है। कौन-सा भेद ? 'यह मेरा, यह दूसरे का' इस तरह का भेद और 'यह मेरा धन, वह दूसरे का धन' यह भेद। इस तरह का भेद भक्त के मन में नहीं रहता। यहाँ भी यही सुझाया है कि आर्थिक विषमता और सामाजिक विषमता मिटनी चाहिए। आर्थिक और सामाजिक आजादी की बात भूदान-ग्रामदान में चलती है। मान लीजिये, आपके पास धन है। दूसरा व्यक्ति उसे चाहता है। वह यदि यह सिद्ध कर दे कि उस धन का आपकी अपेक्षा उसे अधिक उपयोग है, तो उसे तत्काल दे देना चाहिए। धनवान् को समझना चाहिए कि 'मैं अपनी संपत्ति का मालिक नहीं, 'ट्रस्टी' (थातीदार) हूँ।'

मैं आश्रम में था। मेरे पास एक बार एक भाई आये। कहने लगे कि 'आश्रम में तो समय-समय पर घंटियाँ बजती हैं, आपको घड़ी की उतनी आवश्यकता नहीं, मैं घूमता रहता हूँ, मुझे उसकी आवश्यकता है, इसलिए घड़ी मुझे दीजिये।' मैंने अपनी घड़ी तुरंत उनको दे दी। कुछ दिनों बाद दूसरे एक भाई ने मेरे पास घड़ी नहीं है, यह देख अपनी कलाई की घड़ी मुझे दे दी। दो-तीन दिनों बाद पहले भाई मुझसे मिलने के लिए आये। उन्होंने मेरे पास नयी घड़ी देखी तो बोले : 'आपको इस रिस्ट-वाच की क्या आवश्यकता ? आप अपनी पुरानी घड़ी रख लीजिये और यह मुझे दे दीजिये। मुसाफिरी में रिस्ट-वाच सुविधाजनक रहेगी।' मैंने रिस्ट-वाच उनको दे दी और पुरानी घड़ी रख ली।

यह मिसाल मैंने इसलिए दी कि भागवत में जो बातें बतायी हैं, वे अव्यावहारिक नहीं हैं। भगवान् कह रहे हैं कि जिसके मन में मिलकियत की भावना नहीं रहेगी, जो कुछ है वह सबका है, यह भावना रहेगी, जो सब भूतों के विषय में समान व्यवहार करेगा और शान्त होगा, वह उत्तम भक्त होगा।

**(३.९) त्रिभुवन - विभव - हेतवे - ऽप्यकुंठ-**
**स्मृतिरजितात्म-सुरादिभिर् विमृग्यात्।**
**न चलति भगवत्पदारविंदात्**
**लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥**

—११.२.५३

ये सारे लक्षण हैं भगवान् के श्रेष्ठ भक्त के, भगवद्-भक्तश्रेष्ठ के, भक्तोत्तम, भागवतोत्तम या वैष्णव-शिरोमणि के।

**त्रिभुवनविभवहेतवे अपि**—त्रिभुवन का वैभव प्राप्त होने पर भी। **अकुंठस्मृतिः**—जिसकी स्मृति कायम है। प्रायः वैभव में मनुष्य भगवान् का स्मरण भूल जाता है। किन्तु श्रेष्ठ भक्त तो जनक महाराज के समान होता है। महान् साम्राज्य प्राप्त होने पर भी उसको भगवत्-स्मृति बनी ही रहती है। ऐसा भक्त **लवनिमिषार्धमपि**—आधा निमिष भी। **न चलति भगवत्-पदारविंदात्**—भगवान् के चरणों से अलग नहीं होता। निमेष और उन्मेष, ये दो शब्द हैं। निमेष का अर्थ है—आँखें बन्द करना और उन्मेष है—आँखें खोलना। ऐसे भक्त को आधा निमेष भी भगवत्-स्मरण से अलगाव नहीं होता। वह 'वैष्णवाग्र्यः' यानी वैष्णव-शिरोमणि होता है।

तीनों लोकों का आधिपत्य प्राप्त हो जाने पर भी इस वैष्णव-शिरोमणि की भगवत्-स्मृति कायम ही रहती है। प्रायः ऐसे समय स्मृति कायम नहीं रह पाती। इसीलिए कुन्ती ने वर माँगा था :

**विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।**
**भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनम्॥**

हे जगद्गुरो! मुझे बार-बार विपत्ति दीजिये, जिससे आपका स्मरण, आपका दर्शन होता रहे। यही हिन्दुस्तान की संपत्ति है। हमें क्या प्राप्त करना है? भगवद्-दर्शन, भगवत्-स्मरण। इसलिए ऐसी चीज माँग ली, जिससे सतत भगवत्-स्मरण बना रहे।

तुलसी-रामायण में एक प्रसंग है। राम ने बाली को बाण मारा। बाली देह छोड़ने की तैयारी में है। वह प्रभु से पूछता है कि 'मैंने आपका कौन-सा अपराध किया, जो आपने मुझे इस तरह मारा?' भगवान् जवाब देते हैं : 'मैं तो तुम पर बड़ा प्रसन्न हूँ। मात्र तुमने एक गलत काम किया था, इसलिए मुझे यह करना पड़ा। लेकिन अब भी चाहो, तो तुम्हें जीवन दे सकता हूँ।' तब बाली कहता है : 'मैं बेवकूफ नहीं, जो मरते समय आपके प्रत्यक्ष दर्शन के बिना मर जाऊँ। मेरा बड़ा भाग्य है कि मरते समय आपका दर्शन हो रहा है।' फिर भगवान् ने बाली को अपने धाम वैकुण्ठधाम में गति दी। यही भारत की शक्ति है।

चीनी लेखक लिन यु टाँग ने लिखा है : **इंडिया इज ए गाड इंटाक्सिकेटेड लैंड**—भारत को भगवान् का नशा है।

ऐसा भक्त भगवत्-चरण से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होता। भगवान् का चरण कौन-सा है ? मूर्ति का चरण तो दीखेगा, पर भगवान् का चरण कैसे दीखेगा ? वेदों में भगवत्-चरण का वर्णन आया है : **पादोऽस्य विश्वा भूतानि**—यह सारी सृष्टि, जो सामने दीख रही है, भगवान् का चरण है। इसलिए भगवद्भक्त भगवान् के चरणों की सेवा में लगे रहते हैं, जनता की सेवा करते हैं। जन-सेवा को भगवत्-चरण-सेवा मानते हैं। यह दृष्टि आ जाय, तो एक क्षण भी विस्मृति न होगी।

**'अकुंठस्मृतिः'**—शब्द बड़ा सुन्दर है। कितना भी बड़ा आघात आ जाय, स्मरण कुण्ठित नहीं होता, टूटता नहीं—इसमें उतना आश्चर्य नहीं, जितना आश्चर्य इसमें है कि सुखों का आघात होने पर भी वह नहीं टूटता। प्रायः लोग सोचते हैं कि मनुष्य दुःखी है तो उसे उसमें से छुड़ाया जाय। किन्तु उन्हें इसका खयाल नहीं कि दुःख की तरह सुख से भी मनुष्य को छुड़ाना चाहिए। जितना खतरा दुःख में है, सुख में उससे वहुत अधिक खतरा है। इसलिए सुखी मनुष्य को भी जागृत करना चाहिए कि 'भाई, भगवत्-स्मरण से अलग हो रहे हो, खतरा है। सावधान !'

ध्यान रखें कि सुख और दुःख दोनों में खतरा है। मान लीजिये, हम बैलगाड़ी में बैठकर जा रहे हैं। यदि बैलगाड़ी समतल रास्ते पर चल रही है तो गाड़ीवाला सो जाय, तो भी गाड़ी धीरे-धीरे चलती रहेगी। किन्तु चढ़ाव आने पर मुश्किल हो जायगा, बैल आगे नहीं बढ़ेंगे और जोर लगाकर गाड़ी को ढकेलना होगा। उसमें खतरा है। उतार आयेगा तो उसमें भी खतरा है। बैल जोरों से दौड़ने लगेंगे, काबू में नहीं रहेंगे और गाड़ी गड्ढे में जा गिरेगी। दूसरे शब्दों में सुख है उतार, तो दुःख है चढ़ाव। सुख में सारी इन्द्रियाँ लालायित रहती हैं और गिर जाती हैं। दुःख में मनुष्य आगे नहीं बढ़ता, उसकी हिम्मत पस्त हो जाती है। इसलिए चढ़ाव और उतार दोनों में खतरा है। समतल रास्ता ही सुरक्षित होता है।

किन्तु जो वैष्णव-शिरोमणि हैं, उनका चित्त भगवत्-स्मरण से एक क्षण भी दूर नहीं होता। जहाँ चित्त में भगवत्-स्मरण है, चित्त एकाग्र

है, वहाँ काम, क्रोध, मत्सर, अहंकारादि टिक नहीं पाते। हमें बचपन में कहा गया था कि राम-नाम के सामने भूत टिक नहीं सकता। फिर होड़ लगती कि 'कौन श्मशान में जाकर खूँटा गाड़ आता है?' राम-नाम के सामने भूत कैसे टिकेंगे? यह श्रद्धा की बात है। इसके सामने कोई विकार टिक नहीं पाता। विकारों के पीछे पड़ने के बजाय, 'यह हटाओ, वह हटाओ' आदि निषेधक कार्यक्रम के बजाय विधायक कार्यक्रम अच्छा होगा कि 'भगवत्-स्मरण करो।' नहीं तो 'छोड़ना है, छोड़ना है' कहते-कहते जो छोड़ना हो, वही पक्का हो जाता है। इसलिए भगवत्-स्मरण पकड़ लो तो विकार यों ही खतम हो जायँगे। ●

## ३. माया-संतरण

**( ४.१ ) कर्माण्यारभमाणानां दुःख-हत्यै सुखाय च।**
**पश्येत् पाक-विपर्यासं मिथुनी-चारिणां नृणाम् ॥**

—११-३-१८.

माया को कैसे तैर जाना, इसकी चर्चा चल रही है। लोग तरह-तरह के अनेक कर्म शुरू कर देते हैं। किसलिए? **दुःखहत्यै सुखाय च**—दुःख से मुक्ति और सुख की प्राप्ति के लिए। लोग चाहते हैं कि सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार हो। सुख मिले और दुःख टले। इसी उद्देश्य से भिन्न-भिन्न कर्म शुरू कर देते हैं। लेकिन होता क्या है? **पश्येत् पाक-विपर्यासम्**—परिणाम उलटा ही दीखता है। उनसे दुःख ही मिलता है और सुख खोया जाता है। कर्म का आरम्भ किया था सुख के लिए। सांसारिक कार्य किया, घर बनाया, खेतीबारी शुरू की, नौकरी की। सब कुछ दुःख-निवारण और सुख-प्राप्ति के लिए किया। लेकिन परिणाम विपरीत आया। इसलिए यह ध्यान में रखें कि **मिथुनी-चारिणां नृणाम्**—विषयासक्त पुरुषों द्वारा सुखार्थ किये गये सभी प्रयत्नों के परिणाम कल्पना से विपरीत होते हैं। **पश्येत्**—भागवतकार इस बात पर गौर करने के लिए कहते हैं। माया-संतरण का यह पहला पाठ है।

एक बड़े बादशाह की २०-२५ साल तक रोज लिखी डायरी है। इतने दिनों की कुल डायरी में केवल ११-१२ दिन ही ऐसे हैं, जहाँ लिखा है कि 'दिन सुख से बीता।' बाकी सारे दिन दुःख में बीते। बादशाह तो बड़े-बड़े काम करता था, उसकी सारी जिन्दगी काम में ही बीती। लेकिन परिणाम यह आया कि केवल १२ दिन सुख के मिले। मानसिक-शारीरिक उपाधिकृत और परिस्थितिकृत दुःख अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें से एक भी प्रकार के दुःख से रहित कितने दिन बीते, यह लिखा जाय तो ध्यान में आयेगा कि बहुतों की स्थिति उस बादशाह जैसी ही है। गरीबों के जीवन में ऐसे दिन कुछ अधिक आते होंगे, मध्यवित्त लोगों में उनसे कम, तो बड़ों के जीवन में बहुत कम आते होंगे। फिर भी दुःख-निवारण और सुख-प्राप्ति के लिए उन सभी द्वारा किये गये प्रयत्नों का परिणाम विपरीत ही सिद्ध होता है।

इसमें साधना का पहला कदम बताया गया है। यदि चित्त में यह कल्पना कायम रहे कि 'सुख-प्राप्ति के लिए किये जा रहे प्रयत्नों से निश्चय ही सुख होता है; वह न होता तो हमारे पिता, उनके पिता, उनके भी पिता इसी रास्ते से क्यों जाते?' तो साधना का आरम्भ ही न होगा। अतः साधना के आरम्भ के लिए यह भान होना चाहिए, विवेक होना चाहिए, पहचान होनी चाहिए कि सुख-प्राप्ति के लिए किये जा रहे प्रयत्न निश्चित दुःख में ही परिणत होते हैं और उन प्रयत्नों की दिशा गलत है। माया-संतरण का यह प्रथम कदम है।

फिर क्या कहते हैं?

**( ४.२ ) नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्म-मृत्युना।**
**गृहापत्याप्त-पशुभिः का प्रीतिः साधितैश् चलैः ॥**

—११.३.१९.

वित्त का यह वर्णन है। **दुर्लभेन**—दुर्लभ। **नित्यार्तिदेन**—सदैव कष्ट देनेवाला। वित्त की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। उसके लिए सतत कष्ट भोगना पड़ता है। उसमें अपने सारे विचारों की हत्या ही है—**आत्ममृत्यु** है। वित्त पाया तो क्या लाभ हुआ? गृह, अपत्य, आप्त और पशु—सारा संसार बढ़ाया। पर ये कोई स्थिर वस्तुएँ हैं? **का प्रीतिः साधितैः चलैः**—इन चंचल वस्तुओं को प्राप्त करके भी क्या आनन्द मिला? यदि कोई

स्थायी चीज हाथ लगती, तो समझ सकते थे कि यत्न करते हुए कुछ तकलीफ हुई तो भी कोई हर्ज नहीं। तकलीफ के लायक ही काम था, क्योंकि वह स्थायी चीज है। पुण्य या प्रेम प्राप्त किया होता तो कोई चीज थी। लेकिन पैसा, आप्त, घर ये सारे तो क्षयी हैं, इनका क्षय निश्चित है। ऐसों को प्राप्त कर **का प्रीतिः** ?

ये सारी बातें सुनकर सब लोग मेरे पास आकर यह कहें कि 'आपका उपदेश हमें बहुत अच्छा लगा, हम घर-बार सब कुछ छोड़ आपके पास आये हैं। अब आप ही सुझाइये कि हम क्या करें?' तो बाबा क्या कहेगा? यही कि 'जो कर रहे हो, उसमें विवेक रखो।' घर-बार छोड़ने के लिए बाबा नहीं कहेगा, बल्कि उसमें विवेक रखने के लिए कहेगा। नित्य-अनित्य का विवेक रखें। विवेक रखकर अपनी शक्ति का उपयोग करें, जिससे स्थिर वस्तु हाथ में आ जाय।

यहाँ अनित्य वस्तुएँ तो खूब पड़ी हैं। स्वयं देह ही अनित्य है। फिर भी इस अनित्य का आधार लेकर, अनित्य व्यवहार में काम करते हुए नित्य वस्तु प्राप्त करने की दृष्टि रखनी चाहिए। शाम को सोने के पहले सोचना चाहिए कि 'आज मैंने क्या किया? क्या कोई ऐसी बात की, जो मेरे साथ आयेगी या ऐसा ही सब कुछ किया, जिसे छोड़कर ही जाना पड़ेगा? दिनभर जो व्यवहार किये, वे सारे प्रयोग हैं। व्यापार एक प्रयोग है और नौकरी भी एक प्रयोग। इन प्रयोगों से कोई स्थिर चीज आज हमने निकाली, कुछ आविष्कृत की? परोपकार का मौका आने पर परोपकार किया? कोई दुःखी मिला तो उसकी मदद करने की कोशिश की? कहीं करुणा का कार्य, प्रेम का कार्य, सहयोग का कार्य किया, जिससे चित्त-शुद्धि हो? कल हमारे चित्त की जो शक्ति थी, क्या उससे अधिक शक्ति आज हम अनुभव कर रहे हैं? कल की अपेक्षा आज हमारा चित्त अधिक निर्मल है?' व्यापारी रात को दिनभर की लेन-देन का हिसाब करता है, तब उसे पूँजी की कल्पना आती है। गत दिन से पूँजी बढ़ी तो समझता है कि व्यापार अच्छा हुआ। ठीक इसी तरह हम दिनभर जो व्यापार करते हैं, उनका महत्त्व नहीं। दिन के अन्त में जो पूँजी कमायेंगे, उसीका महत्त्व है। उसे ही 'धर्म' कहते हैं। सारांश, हमारे हाथ से कौन-सा धर्माचरण हुआ, यह देखना चाहिए।

इसलिए मनु महाराज ने एक कसौटी बता दी है। जब हम इस

दुनिया से जायेंगे, तब हमारे साथ क्या रहेगा ? वे कहते हैं **धर्मस्तिष्ठति केवलः**। जो कुछ धर्म का काम किया होगा, वही पूँजी हमारे साथ रहेगी। बाकी सारी चीजें यहीं छूट जायँगी। धर्म ही हमारी आखिरी पूँजी है। इसलिए दिनभर के व्यवहार से यदि हमारे सद्गुण बढ़े हों, दुर्गुण कम हुए हों, चित्त की अधिक शुद्धि हुई हो, तो कुछ कमाई हुई, यह समझें। उसका निरीक्षण करें, इतना ही बाबा कहता है। यह नहीं कहता कि सब लोग नौकरी छोड़ दें, व्यापार-धंधा छोड़ दें। जो भी कुछ करें, उसके परिणाम में अपनी पूँजी गिना करें, तो बस है !

**( ४.३ ) एवं लोकं परं विद्यात् नश्वरं कर्म-निर्मितम्।**
**सतुल्यातिशय-ध्वंसं यथा मंडल-वर्तिनाम्॥**

—११.३.२०.

इस श्लोक में परलोक का विषय है। लोग सोचते हैं कि यहाँ अच्छा काम करेंगे, तो परलोक में हमें अच्छा स्थान मिलेगा। गुजराती में एक कहावत है : **एरणनी चोरी अने सोयनुं दान**—निहाई की चोरी की और सुई का दान दिया। दुनिया में हमारा जीवन अच्छा चले, इसलिए बड़ी चोरी करके पूँजी कमायी और परलोक में अपना स्थान कायम रहे, इसलिए सुईभर का दान दिया। यानी दोनों बाजू अपना स्थान कायम करने की कोशिश की।

लेकिन भागवत के इस श्लोक में कहते हैं : **एवं लोकं परं विद्यात् नश्वरं कर्म-निर्मितम्**। अर्थात् जैसा यह लोक है वैसा ही वह है, जिसे आप 'परलोक' कहते हैं। दोनों में कोई फरक नहीं। माना जाता है कि परलोक में पालकी है, देवता पालकी में बैठकर जाते हैं। वहाँ पैदल चलने की बात ही नहीं। किन्तु मैं पूछता हूँ कि पालकी भी किसीके कंधे पर बैठती होगी न ? स्वर्ग में कोई देवता पालकी में बैठता होगा तो कोई ( देवता ) ऐसा भी होगा, जो उस पालकी को कंधे पर उठाता होगा, यानी जो विषमता यहाँ है, वही वहाँ भी है।

कैसा है वह लोक ? **सतुल्य**। वहाँ सब लोग तुल्य हैं, सब देवता ही हैं। कोई काम करने के लिए तैयार ही नहीं। इसलिए यहाँ जो स्पर्धा है, वही वहाँ भी है। **सातिशयम्**—जो ऊँच-नीच भाव यहाँ है, वह वहाँ भी है। **सध्वंसम्**—यहाँ जैसा नाश है, वैसा वहाँ भी है, यानी वह भी कायम

टिकनेवाला नहीं है। मतलब यह कि जो तीन दोष यहाँ हैं, वे ही तीन दोष ( होड़, ऊँच-नीच भाव और नश्वरता ) वहाँ भी हैं। यानी परलोक केवल 'एक्स्टेन्शन'—यहाँ के जीवन का विस्तारमात्र है। इससे अधिक कुछ नहीं। जो बुराइयाँ, भलाइयाँ यहाँ होंगी, वे ही वहाँ भी होंगी। इसलिए जो लोग स्वर्ग के लिए तरह-तरह के काम करते हैं, वे अपनी सकामता में ही वृद्धि करते हैं। इस दुनिया के लिए तो हम कामना करते ही थे, अब उसके साथ स्वर्ग के लिए भी कामना करने लगे।

इसलिए भागवत कह रही है कि परलोक की चिन्ता मत करो, अपने चित्त की शुद्धि हो, इसकी चिन्ता करो। 'जपुजी' में आरम्भ में ही कहा है : 'झूठ कैसे हटेगा और सत्य कैसे बढ़ेगा, यह सोचना चाहिए, न कि यह सोचना कि स्वर्गलोक और परलोक के लिए पूँजी कैसे इकट्ठी करें।'

इन तीन श्लोकों द्वारा तीनों चीजों का निषेध हो गया—स्वर्ग का, संसार में धन आदि प्राप्त करने का और सुख-प्राप्ति के लिए किये जाने-वाले तरह-तरह के कामों का, यानी सांसारिक काम, सांसारिक प्राप्ति और परलोक में होनेवाली प्राप्ति, तीनों का निषेध !

इन तीनों के बारे में सोचें, तभी आगे की बात सध सकती है। क्या सांसारिक काम, सांसारिक वासना-प्राप्ति और स्वर्ग-प्राप्ति, हमारा चित्त तीनों के बीच कहीं रुका हुआ है ? क्या इन तीनों में से कोई चीज चित्त का पसन्द है ? यदि यह ध्यान में आ जाय कि तीनों चीजें ऊपर-ऊपर की हैं, अन्दर की चीज और ही है, तो उसे पाने के लिए क्या करना होगा, इसका विचार कर सकते हैं।

अब उत्तम श्रेय किसमें है, यह बता रहे हैं :

**( ४.४ ) तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।**
**शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥**

—११.३.२१

जो उत्तम श्रेय जानना चाहता है, उसे सीखना चाहिए। कहाँ ? तो गुरु के पास। वह गुरु कैसा हो ? **शाब्दे परे च निष्णातम्**—वेद, उप-निषद्, बाइबिल, कुरान, जपुजी आदि जो दर्शन-ग्रन्थ हैं, समाज के लिए प्रेरणादायी ग्रन्थ हैं, उनमें प्रवीण होना चाहिए। **ब्रह्मणि**—ब्रह्मविद्या

का साक्षात्कारी होना चाहिए। **उपशमाश्रयम्**—वह शान्ति का घर होना चाहिए। ये तीनों गुण जिसमें हों, वही योग्य गुरु होगा।

ऐसा गुरु कहाँ मिलेगा ? सिखों ने निर्णय दिया है कि बहुत-से गुरु होते हैं, तो उनका आपस में मतभेद खड़ा हो जाता है, इसलिए दस गुरु बस हैं। पहला गुरु नानक और आखिर का गुरु गोविन्द सिंह। उनके आगे ग्रन्थ को ही गुरु समझो। आगे गुरु नहीं होंगे, ऐसी बात नहीं। फिर भी ग्रन्थ को ही गुरु के तौर पर मानना चाहिए, ऐसा उन्होंने निर्णय दिया।

**न कुर्यात् न वदेत् किञ्चित् न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।**
**आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेत् जडवन्मुनिः॥**

जो गुरु होगा, वह तो जडवत् विचरण करेगा। उसे पहचानना ही मुश्किल होगा। किन्तु वह मिले तो प्रमाण-ग्रन्थों में निष्णात, ब्रह्मविद्या का साक्षात्कारी ( अनुभवी ) व्यक्ति और शान्ति का निवास हो। महाराष्ट्र के संत एकनाथ महाराज ने विनोद किया है कि शान्ति घर ढूँढ़ने के लिए निकली, पर उसे कहीं जगह नहीं मिली। जहाँ भी जाती, उसे अशान्ति ही देखने को मिलती। सब तरह से निराश होने पर वह गुरु के पास आकर बैठ गयी। मतलब यह कि गुरु के पास शब्दविद्या, ब्रह्मविद्या और शान्ति भी हो।

महाराष्ट्र के संत रामदास स्वामी ने लिखा है :

**विवेका सारिखा नाहीं गुरु। चित्ता सारिखा शिष्य चतुरु॥**

'विवेक के समान गुरु नहीं और चित्त के समान चतुर शिष्य नहीं।' चित्त चिन्तनशील होता है, जब कि मन होता है गोडाउन ( गोदाम ) ! जो भी कचरा आया, मन में भर रखते हैं, पर चित्त चिन्तनशील है। जो चिन्तनशील है, वह उत्तम शिष्य है। तो, हमारा चित्त चिन्तनशील हो और हम विवेक की ही शरण जायँ। अन्तर्यामी भगवान् तो हैं ही। यदि आप विवेक से सोचें तो अन्तर्यामी भगवान् आपको अवश्य उत्तर देंगे।

गुरु के पास क्या सीखना चाहिए, तो कहते हैं :

( ४.५ ) **तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।**
**अमाययाऽनुवृत्त्या यैस् तुष्येदात्मात्मदो हरिः॥**

—११.३.२२.

**भागवतान् धर्मान् शिक्षेत्**–भागवत-धर्म सीखना चाहिए। **गुर्वात्म-दैवतः**—गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखकर और आत्म-देवता का आदर कर। **अमायया**—पूर्ण निष्कपट भाव से यानी ऋजुबुद्धि से और **अनुवृत्त्या**—सेवाभाव से गुरु के पास जाना चाहिए।

भागवत-धर्म यानी भक्ति-मार्ग। भक्ति-मार्ग तो सद्गुणों का ही बनता है। भक्ति-मार्ग यानी सद्गुण-विकास। नानक का प्रसिद्ध काव्य है: **बिनु गुण कीते भगति न होई**—गुण प्राप्त किये बिना भक्ति नहीं। पूजा-पाठ करना भक्ति नहीं। वह श्रद्धामात्र है। भक्ति तो तब होगी, जब गुण प्राप्त करेंगे। इसलिए गुणों का अनुशीलन करना चाहिए।

आगे के श्लोकों में ऐसे ३१ गुण दिये गये हैं, जिनका अनुशीलन होना चाहिए।

अनुशीलन कैसे किया जाय? ये गुण अपनी डायरी में लिख रखें और रोज सोने के पहले और उठने के बाद उन्हें देखें। जैसे: क्या मुझे गुस्सा आया था? आया था तो मैंने क्षमा-गुण खो दिया। सभी गुणों का अनुशीलन न कर सकें, तो उनमें से कुछ चुन लें और उनका परिशीलन करें। आज गलती हुई, तो कल सावधान रहें। दूसरे दिन गलती हुई, तो तीसरे दिन अधिक सावधान रहें। रोज इस तरह देखते जायँगे, तो एक दिन ऐसा आयेगा जिस दिन आपकी कोई गलती नहीं होगी। ऐसा हुआ, तो आपने निषेधात्मक (निगेटिव) परीक्षा पास कर ली। लेकिन विधायक (पॉजिटिव) भी कुछ करना होगा, तो देखें कि क्या हमने किसी पर दया की, क्षमा की, प्रेम या परोपकार किया? गुण-विकास का यह एक तरीका है। इसे एक खेल ही मान सकते हैं।

(४.६) **सर्वतो मनसोऽसंगं आदौ संगं च साधुषु।**
**दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥**

—११.३.२३.

गुणों का वर्णन कर रहे हैं: **आदौ**—प्रारम्भ में। **सर्वतः मनसः असंगम्**—सभी ओर से मन की असंगति, मन की संगति न करना।

अब प्रश्न उठता है कि आरम्भ में जो गुण बताये जायँ, वे सरल होने चाहिए या कठिन? क्योंकि पहले नम्बर में जो गुण बताया जायगा, वह भागवत-धर्म की सर्वथा नींव होगी। यहाँ मन की असंगति पहला

गुण बताया। यानी अपना सारा गोदाम ही खाली कर दिया। अन्दर जो सारा कचरा भरा पड़ा था, वह मन के कारण ही। मानो उस कचरे को आग ही लगा दी!

मैं इस पर बहुत जोर दिया करता हूँ। निश्चय ही मन से ऊपर उठना या मन से अलग होना कठिन बात है, पर उसके बिना गति ही नहीं। उसके बिना परमार्थ में प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसलिए आरंभ में ही मन का असंग करने के लिए कहा गया है। कबीर ने कहा है : **एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।** ऐसा एक ही काम हो, जिससे सब काम सध जायँ। गीता में दैवी-संपत्ति का वर्णन करते हुए 'अभय' से आरम्भ किया गया है। सिखों में भी 'निर्भय' और 'निर्वैर' ये दो गुण बताये हैं। हरएक गुण का अपना-अपना महत्त्व है। लेकिन परमार्थ-प्रवेश के लिए यह जो बात भागवत में बतायी गयी है, उसके साथ मेरा मानसिक मेल बैठ गया है।

यहाँ लोग आया करते हैं जूते पहनकर, किन्तु अन्दर आते हैं जूते बाहर उतारकर ही। जूते पहनकर कभी अन्दर नहीं आते। इसी तरह यदि आप मन के साथ आते हैं तो आइये, जूते की तरह उसे भी बाहर रखकर आइये। जब यहाँ से वापस जायँ, तो पहनकर जा सकते हैं। गुरु का दरबार है, मन्दिर है, मसजिद है, चर्च है, पंचायतघर है—वहाँ मन को बाहर रखकर ही अन्दर प्रवेश करें। अन्यथा क्या होगा? ग्रामसभा में ५० लोग हैं, तो ५० मन वहाँ इकट्ठे होंगे और झगड़ा खड़ा होगा। इसलिए कुछ स्थान ऐसे हों, जहाँ प्रवेश करने के पहले मन को बाहर रखने की आदत डाली जाय। ऐसी आदत लग सकती है। एक बार वह आदत लग जाय, तो फिर मन के साथ सम्बन्ध रखने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

यह विज्ञान का जमाना है। इसलिए अब भी मन के साथ सम्बन्ध बनाये रखा, तो खतम ही समझें। विज्ञान के कारण दुनिया नजदीक आ रही है और इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े हो रहे हैं। उनका हल खोजने के लिए मन के साथ चलेंगे तो झगड़े खतम नहीं होंगे, बल्कि दुनिया ही खतम हो जायगी। ऐसे मसले मन को बाहर रखकर ही हल हो सकते हैं। दो देशों के नेता झगड़ा हल करने के लिए बैठें, तो उन्हें उन देशों के हित की दृष्टि से सोचना पड़ेगा, व्यापक दृष्टि रखनी होगी, तभी काम

बन सकता है। अपना-अपना आग्रह रखेंगे तो मसला हल न होगा। मन में जाति, धर्म, पन्थ, पक्ष, राष्ट्र—ये सारी भावनाएँ भरी पड़ी हैं। ऐसा मन साथ लेकर जायँगे तो मन के साथ ही मुलाकात होगी, मानव के साथ नहीं। परमार्थ में प्रवेश तो दूर ही रहा। इसलिए मन से अलग होने की बात कठिन होने पर भी हमें प्रथम उसी को साधना होगा।

मन से अलग होने की यह बात बचपन से सिखानी चाहिए। पुराने जमाने में बच्चा छह-सात साल का हो जाने पर उसे गुरु के घर भेजने का नियम ही था। यह मान लिया गया कि विद्या-प्राप्ति के लिए कष्ट तो उठाना ही पड़ेगा। बच्चे को गुरु के घर भेजने का अर्थ है, उसे अपने घर से तोड़ना। देखने में इसमें कठोरता दीखती है, लेकिन माता-पिता और स्वयं बच्चे के लिए यही श्रेयस्कर है। माता-पिता की आसक्ति में बच्चा रहता है, तो वह दोनों के हित में नहीं। बच्चे को अपने मन के साथ असंग करना ही पड़ेगा।

एक पिता की कहानी है। उन्होंने अपने बच्चे को हमारे आश्रम में रखा। आश्रम में खाना-पीना तो बहुत ही सादा होता था। दीपावली आयी, तो पिता ने मुझे पत्र लिखा : 'इस साल दीपावली में हम मिठाई आदि नहीं बनायेंगे, क्योंकि हमारे बच्चे को आश्रम में मिठाई मिलनेवाली नहीं है।' वह पत्र मैंने बच्चे को पढ़कर बताया, तो उसे हिम्मत आयी। ऐसा ही होना चाहिए। बच्चा जैसा जीवन जी रहा है, उससे कठिन जीवन बच्चे के माता-पिता को जीना होगा, तभी बच्चे में हिम्मत आयेगी।

हमारे घर की ही बात है। घर में हम पाँच-छह लोग थे। यदि कोई लड़का बीमार पड़ता और डॉक्टर उसे दाल न खाने के लिए कहता, तो पिताजी घर में दाल बनने ही नहीं देते थे। जब तक लड़का दाल नहीं खा सकता, तब तक घर में दाल बनती ही न थी। माता-पिता यदि दाल खा रहे हों, तो बच्चे से उसका संयम नहीं सधेगा, उसमें हिम्मत नहीं आयेगी।

मतलब यह कि मन से अलग होने की बात बचपन से ही सिखानी चाहिए। यदि यह न सधेगी तो सत्संगति का लाभ नहीं मिलेगा। मैंने ऐसे कई उदाहरण देखे हैं, जिन्हें सत्संगति पची नहीं, क्योंकि वे अन्दर से बाहर थे और बाह्यरूप में सत्संगति करते थे।

फिर नम्बर २ में जो गुण बताया है, वह कुछ सरल है। **संगं च साधुषु**—सज्जनों की संगति। पहले मन की असंगति और फिर सज्जनों की संगति। कहना यह चाहते हैं कि मन लेकर सज्जनों की संगति में जायँगे, तो उस संगति से लाभ नहीं होगा। यही होगा कि पत्थर सदैव नदी में पड़ा रहा, पर भींगा नहीं।

फिर कहते हैं कि आप समाज में रहेंगे, तो समाज के साथ व्यवहार कैसा करेंगे? अतः समाज के साथ व्यवहार करने की तीन वृत्तियाँ बतायी गयीं: **दयां मैत्रीं प्रश्रयं च**—किसीके प्रति दया, किसोके साथ मैत्रो, तो किसीके प्रति आदर। लोगों के साथ व्यवहार में इन तीन प्रकार की वृत्तियों में से जो उचित हो, अपनानी चाहिए।

जो लोग हमसे नीचे हैं, उनके लिए सामान्यतः तिरस्कार होता है। उनके लिए 'दयाभाव' हो। जो अपनी बराबरी के हैं, साथी हैं, उनके लिए स्पर्धा रहती है। उनके साथ 'मैत्री' होनी चाहिए। जो लोग हमसे आगे बढ़ चुके हैं, उनके लिए मत्सर होता है। उनके लिए 'प्रश्रय' यानी आदर होना चाहिए। भागवत समाज को तीन हिस्सों में बाँटकर कहती है कि तीनों के साथ तीन प्रकार के व्यवहार होने चाहिए।

मन से अलग हो जायँ, सज्जनों की संगति में रहा करें और दया-मैत्री-आदर का भावनाओं से समाज में काम करें—यह एक सर्वसाधारण नीति-विधान ( **कम्प्लीट कोड आफ कांडक्ट** ) बता दिया। इसके आगे और गुण बताते हैं:

(४.७) **शौचं तपस् तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।**
**ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वंद्व-संज्ञयोः॥**

—११.३.२४.

**शौचम्**—यानी स्वच्छता। यदि इस गुण की कसौटी पर हम अपने समाज को कसें, तो अनुभव आयेगा कि हमारा समाज बहुत गन्दा है। यूरोप की तुलना में तो बहुत ही अधिक गन्दा है। वैसे तो हमारे धर्म-शास्त्र में व्यक्तिगत स्वच्छता के नियम बताये गये हैं कि स्नान करो, हाथ-पाँव, मुँह धोओ, आदि। उनका पालन हम करते ही हैं। बाकी सब गन्दा है। पानी गन्दा, रास्ते गन्दे, पाखाना गन्दा। नदी में स्नान के लिए जायेंगे तो उसे भी गन्दा कर देंगे। तीर्थ-स्थान तो गन्दे-से-गन्दे

होंगे ही। हमारे सामाजिक जीवन में शौच की कमी है। भागवत ने धर्म के तौर पर यह बात कही है। अंग्रेजी में कहा है : **क्लीनलीनेस इज नेक्स्ट टू गॉडलीनेस** अर्थात् 'स्वच्छता का स्थान ईश्वरीयता के ठीक बाद है।' यह बात सही है। जहाँ स्वच्छता होती है, वहाँ चित्त एकदम प्रसन्न हो जाता है और चित्त प्रसन्न होता है, तो बुद्धि में विचार भी उत्तम सूझते हैं।

शौचम् के बाद है **तपः**। अपने यहाँ अनेक प्रकार के तप माने गये हैं। कोई शीर्षासन लगाकर उलटा खड़ा होगा और कहेगा तप कर रहा हूँ। कोई पानी में खड़ा रहेगा और कहेगा कि तप कर रहा हूँ। पर भागवत का तप इस प्रकार का नहीं। यहाँ तप का अर्थ है समाज-शुद्धि, शरीर-शुद्धि, चित्त-शुद्धि आदि के लिए की गयी मेहनत। ऐसे ही झाड़ू लगाना, शरीर-श्रम करना भी तप होगा। उसे हम टालते हैं, तो समाज में अनेक प्रकार की समस्याएँ खड़ी होती हैं।

उपनिषद् में यहाँ तक कहा है कि तुम्हें यदि कोई जिज्ञासा है, तो तप करो। भृगु अपने पिता वरुण ऋषि के पास गये और बोले कि 'मुझे ब्रह्म-ज्ञान समझाइये।' उन्होंने कहा : **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**—'तप करो और तप से ब्रह्म जानने की कोशिश करो, क्योंकि तुम्हारे लिए **तपो ब्रह्मेति**—तप ही ब्रह्म है।' भृगु ब्रह्म जानना चाहते हैं और वरुण कहते हैं कि तप ही ब्रह्म है। फिर **स तपोऽतप्यत**—उन्होंने तप किया। **स तपः तप्त्वा**—तपश्चर्या करके, **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्**—ज्ञान हुआ कि अन्न ब्रह्म है। गुरु ने एकदम नहीं बताया कि अन्न ब्रह्म है, तप करके ज्ञान हुआ। किन्तु भृगु को ध्यान में आया कि इससे बढ़कर भी कोई ब्रह्म है। फिर वे गुरु के पास गये तो गुरु ने पुनः कहा : **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति**। फिर से उन्होंने तप किया। उन्हें मालूम हुआ : **प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्**—प्राण ही ब्रह्म है। उसके बाद फिर गुरु के पास गये और उनके आदेशानुसार तपस्या करके जाना : **तपो ब्रह्मेति**—तप ही ब्रह्म है। पुनः गुरु के आदेश से तप किया। फिर मालूम हुआ : **मनो ब्रह्मेति व्यजानात्**—मन ब्रह्म है। फिर गुरु के पास गये। बार-बार गुरु के पास गये और बार-बार गुरु ने कहा : **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**। उपनिषद् में भी यह बार-बार लिखा है। अन्त में भृगु को **विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्**--विज्ञान ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान हुआ। तब उनका

समाधान हुआ। इसीका नाम है 'भार्गवी-वारुणी विद्या'। भृगु शिष्य का नाम है और वरुण है, गुरु का नाम। गुरु के नाम से विद्या प्रसिद्ध होनी चाहिए। लेकिन शिष्य ने तप किया—मेहनत की, इसलिए यह 'भार्गवी-वारुणी विद्या' कहलायी। यह विद्या गुरु-शिष्य दोनों के नाम से प्रसिद्ध है। **सैषा भार्गवी वारुणी विद्या, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता**—यह विद्या हरएक के हृदय में प्रतिष्ठित है। ऐसा है तपस्या का आनन्द !

महाभारत में व्यास ने लिखा है :

**सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।**

'जो सुखार्थी है, उसे विद्या कहाँ से मिलेगी और जो विद्यार्थी है, उसे सुख कहाँ से मिलेगा ?' यानी विद्यार्थी को सुख नहीं। विद्या का आनन्द तो है, किन्तु बाहरी सुख नहीं। तकलीफ भोगनी पड़ेगी। लेकिन आजकल तो पिताजी लड़के को 'होस्टल' में रखना चाहते हैं, तो पहले वहाँ क्या-क्या 'फैसिलिटीज्' ( सुविधाएँ ) हैं, यह देखते हैं। भगवान् कृष्ण के पिता ने कृष्ण को गुरु के पास भेजा। राजा का लड़का था। गुरु के घर उसे एक गरीब ब्राह्मण के लड़के के साथ जंगल से लकड़ी लाने का काम मिला। लेकिन पिता ने कोई शिकायत नहीं की, क्योंकि विद्या इसी प्रकार प्राप्त की जाती है। आज तो जो भी परिश्रम है, सारा शिक्षक को ही करना पड़ता है। विद्यार्थी कुर्सी पर बैठकर आराम से विद्या हासिल करते हैं।

एक राजकुमार यूक्लिड के पास भूमिति सीखने के लिए आया। यूक्लिड दूसरे विद्यार्थियों के साथ उसे भी सिखाने लगा। राजकुमार बोला : 'मैं तो राजा का लड़का हूँ, मुझे सिखाने का कोई अलग तरीका होना चाहिए।' तब यूक्लिड ने कहा : **देअर इज नो रॉयल राड टू ज्यॉमिट्री**—'भूमिति के लिए कोई राजमार्ग नहीं है।' सार यह कि तप के बिना विद्या नहीं मिलती।

**तितिक्षा**—यानी कष्ट सहन करना। कष्ट सहन करने का आदत होनी चाहिए। जो पिता अपने बच्चों के दुश्मन होते हैं ( पूर्वजन्म के दुश्मन इस जन्म में पिता होकर आये हैं ), वे पैसा कमाकर बच्चों के

लिए रख देते हैं। उससे बच्चा बेवकूफ बन जाता है। इसलिए बच्चों को विरासत में एक कौड़ी भी नहीं देनी चाहिए। बल्कि उन्हें अच्छी विद्या देनी चाहिए। उन्हें कष्ट करने का मौका देना चाहिए। जो कष्ट करके विद्या प्राप्त करता है, वह जीवन में कभी नहीं हारता। जयप्रकाश नारायण विद्या-प्राप्ति के लिए अमेरिका गये थे। यहाँ से पैसा लेकर नहीं गये थे। वहाँ उन्होंने मजदूरी की—होटल में काम किया, खेतों में काम किया, पैसा कमाया और फीस देकर अध्ययन किया। बिलकुल मामूली मजदूरी की। इसलिए उनके जीवन में पुरुषार्थ की प्रेरणा पायी जाती है।

मैंने तो यह सारा विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर कहा। किन्तु भागवत कह रही है कि भक्ति के लिए भी तितिक्षा चाहिए। सहन करने की शक्ति चाहिए। तभी भक्ति आयेगी।

**मौनम्**—यह एक अभ्यास का विषय है। जीवन में कुछ समय मौन रखना चाहिए। उससे चिन्तन करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। यह बात सन् १९२८ में मेरे ध्यान में आयी। उस समय मैंने रात को मौन शुरू किया था। रात को आखिरी शब्द प्रार्थना का और सुबह पहला शब्द प्रार्थना का। इस बीच चिन्तन करना, ध्यान करना, अध्ययन करना, लेकिन बोलना नहीं! उसका चित्त पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। तब ध्यान में आया कि इससे बहुत लाभ है। इससे रोज मरण का अभ्यास होता है। मनुष्य का रात का आखिरी समय मृत्यु का समय है। निद्रा यानी मृत्यु का एक छोटा-सा रूप है। आप जिस किस्म का मरण चाहते हैं, उस प्रकार की निद्रा लीजिये। नाटक का पूर्व-प्रयोग होता है, वैसे ही निद्रा मृत्यु का पूर्व-प्रयोग है। दिन की समाप्ति हो गयी, काम समाप्त हुआ, भगवान् को समर्पण कर दिया, चिन्ता-मुक्त हो गये, मौन ले लिया और भगवान् का नाम-स्मरण करते-करते सो गये! एक दिन यह बात मुझे सूझी। तब से मैंने तय किया कि रात को मौन रखा जाय।

**स्वाध्यायम्**—स्वाध्याय यानी नाम-स्मरण, वेदादि ग्रन्थों का अध्ययन, आत्मा को पहचानने की कोशिश। मौन के बाद स्वाध्याय का नाम लिया, क्योंकि स्वाध्याय के लिए मौन लाभदायी है। मौन सधेगा, तभी स्वाध्याय होगा।

**आर्जवम्**—यानी सरलता, सीधा चित्त। चित्त में जरा भी टेढ़ापन

न हो, वक्रता न हो। जिस चित्त में सीधापन नहीं, वह ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए आर्जव आवश्यक बताया।

**ब्रह्मचर्यम्**—हमारे शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य को भी एक बहुत बड़ा साधन माना है। भागवत-धर्म में भी उसे बड़ा स्थान है। ब्रह्मचर्य चार आश्रमों में एक आश्रम है। जीवन के पहले २४ सालों तक ब्रह्मचर्याश्रम, उसके बाद गृहस्थाश्रम, फिर वानप्रस्थाश्रम और अन्त में संन्यासाश्रम। अन्तिम दोनों आश्रमों में तो ब्रह्मचर्य होता ही है, बीच का गृहस्थाश्रम भी ब्रह्मचर्य के अभ्यास का आश्रम माना गया है। इस दिशा में महात्मा गांधी ने बहुत अच्छा आदर्श लोगों के सामने रखा है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर भी पति-पत्नी को एक-दूसरे की सम्मति से संयम का अभ्यास करना चाहिए। गृहस्थाश्रम संयम के अभ्यास के लिए है। सन्तान-हेतु के सिवा पति-पत्नी भोग में न पड़ें और भाई-बहन के समान रहें, यह कोशिश गृहस्थाश्रम में होनी चाहिए। गृहस्थाश्रम ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने की एक पाठशाला की तरह है।

**अहिंसाम्**—अहिंसा यानी किसीकी हिंसा न करना। यह तो ठीक है, एक सामान्य बात है। लेकिन सेवाभाव, परोपकार, आसपास के लोगों की चिन्ता, यह सब भी अहिंसा में ही आता है।

**समत्वं द्वंद्वसंज्ञयोः**—मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि परस्पर विरोधी द्वन्द्व हम पर हमला करते हैं। किसीने सम्मान किया, स्तुति की, तो मीठा लगता है। वह भी हमला है। किसीने अपमान किया, निन्दा की, तो दुःख होता है। वह तो हमला है ही। इस तरह के सुख-दुःखों के सभी प्रसंगों में चित्त को समान रखना चाहिए। चित्त का सन्तुलन रखना बड़ी साधना है। यह भी भक्ति का एक साधन है।

**( ४.८ ) सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।**
**विविक्त-चीर-वसनं संतोषं येन केनचित्॥**

—११.३.२५.

**सर्वत्र आत्मेश्वरान्वीक्षाम्**—आत्मा और ईश्वर को सर्वत्र देखने का अभ्यास। अपना रूप सर्वत्र भरा है, परमेश्वर का रूप सर्वत्र भरा है, यही देखने के लिए हमने समाज में जन्म पाया है, न कि एक-दूसरे के विरुद्ध काम करने के लिए। इसका अभ्यास करना चाहिए।

**कैवल्यम्**—दुनिया में केवल हम ही हैं। सामने अनेक लोग दीखते हैं, फिर भी सर्वत्र हम ही हैं। दुनिया मानो एक दर्पण है। दर्पण में दीखनेवाला रूप हमारा ही होता है। वैसे ही यह सारी दुनिया हमारा प्रतिबिम्ब है। जैसे हम हैं, वैसी दुनिया है। सारी जिम्मेवारी हमारी ही है। हम ही हम दुनिया में व्यवहार कर रहे हैं। इसीका नाम है 'कैवल्य'।

**अनिकेततास्**—इसका अर्थ घर छोड़ना करें तो मामला मुश्किल हो जायगा। मतलब यह होगा कि भागवत-धर्म के वरण के लिए कोई घर ही न बनाये। लेकिन ऐसी बात नहीं। अनिकेतता का अर्थ है, घर की आसक्ति न होना—गृहासक्ति न होना। गीता में भी आता है :

**अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् मे प्रियो नरः।**

'जो मनुष्य अनिकेत है, बिना घरवाला है और स्थिरमति है यानी जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है'—ऐसा भगवान् ने गीता में कहा है। अनिकेत का दूसरा अर्थ है, सतत घूमनेवाला। कहीं भी रहे, स्थान की आसक्ति न रखे—इसीका नाम है 'अनिकेतता'।

फिर एक छोटी-सी चीज है, वह भी बतायी है : **विविक्त-चीर-वसनम्**—सादा कपड़ा पहनें। आश्चर्य की बात है कि भागवत-धर्म में जहाँ **आदौ मनसः असङ्गं** जैसी बड़ी-बड़ी बातें कहीं, वहाँ ऐसी छोटी-सी भी बात कही जा रही है! आज के जमाने के अनुसार इसका अर्थ करने को कहें तो मैं यही करूँगा कि 'खादी पहनो'। भागवत के जमाने में तो खादी के सिवा कुछ था ही नहीं। आज तरह-तरह के कपड़ों से देह को सजाते हैं। पर भागवत कहती है कि सादे कपड़े पहनें, यानी देह को न सजायें। केवल शीत-उष्णादि से रक्षा करने के लिए कपड़ा है, या है लज्जा-रक्षा के लिए।

**संतोषं येन केनचित्**—जिस किसी स्थिति में हमें रहना पड़े, उसीमें हम पराक्रम करें, शरीर-श्रम करें, प्रामाणिक धन्धा करके कमाई करें और जो कुछ मिले, उसीमें सन्तोष मानें।

( ४.९ ) **श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिंदामन्यत्र चापि हि।**
**मनो-वाक्-कर्म-दंडं च सत्यं शम-दमावपि ॥**

—११.३.२६.

**श्रद्धां भागवते शास्त्रे**—हम जो भागवत-शास्त्र पढ़ रहे हैं, उस पर श्रद्धा होनी चाहिए। शास्त्र पर श्रद्धा न हो तो शास्त्र में जो लिखा होगा, उसका क्या असर होगा ? इसलिए शास्त्र पर श्रद्धा आवश्यक है।

इतना कहने के बाद एकदम एक बहुत बड़ी बात कह दी : **अनिन्दाम् अन्यत्र चापि हि**—दूसरे शास्त्रों की निन्दा नहीं होनी चाहिए। वे जानते हैं कि भागवत के अलावा दूसरे बहुत-से भी ग्रन्थ दुनिया में चलते हैं। 'बाइबिल' है, 'कुरान' है, 'ग्रन्थसाहब' है, 'धम्मपद' भी है। अनेक अच्छे-अच्छे ग्रन्थ हैं, भागवत ग्रन्थ का लेखक खुद ही लिख रहा है। वह समझा रहा है कि भागवतों के लिए, वैष्णवों के लिए भागवत श्रद्धेय ग्रन्थ है। उस पर श्रद्धा होनी चाहिए, लेकिन दूसरे ग्रन्थों की निंदा नहीं होनी चाहिए।

यह उदारता एक बहुत बड़ी चीज है। इन दिनों छोटे-छोटे पन्थ बन गये हैं। वे अपने-अपने ग्रन्थ के आधार पर खड़े रहते हैं और दूसरे ग्रन्थों की निन्दा करते हैं। वे कहते हैं कि हमारे धर्म का, हमारे ग्रन्थ का आश्रय लिये बिना मुक्ति नहीं मिलेगी। पर भागवत-धर्म ऐसी बात नहीं कहता। वह कहता है कि भागवत-शास्त्र पर श्रद्धा रखें, किन्तु दूसरे जो शास्त्र हैं, उनकी निन्दा न करें। भागवत ऐसी दृष्टि रखती है। बड़ा ही सुन्दर वाक्य है : **श्रद्धां भागवते शास्त्रे अनिन्दां अन्यत्र चापि हि**। अन्यत्र यानी भिन्न-भिन्न शास्त्रों में जो अच्छे गुण हैं, वे भी लें। अपने-अपने शास्त्रों का आश्रय लें, उन पर अच्छा तरह अमल करें, लेकिन दूसरे शास्त्रों की निन्दा न करें।

**मनो-वाक्-कर्म-दण्डम्**—मन, काया और वाणी का दण्डन करना चाहिए, उन्हें काबू में रखना चाहिए।

**सत्यं शम-दमावपि**—इन्हींके साथ सत्य, शम और दम भी चाहिए। ये भक्ति के कतिपय प्रमुख साधन बताये गये।

## ४. बद्ध-मुक्त-मुमुक्षु साधक

'भागवत' में कुल १२ स्कन्ध हैं। ११वें स्कन्ध में भगवान् ने उपदेश दिया है। दूसरे स्कन्धों में भी उपदेश तो है ही, लेकिन साथ में कथा-कहानियाँ भी हैं। ११वें स्कन्ध में केवल उपदेश ही उपदेश है। उद्धव को उपदेश देकर प्रचार के लिए भेजा और वह भगवान् के उपदेशों का प्रचार करता हुआ घूमता रहा। रास्ते में मैत्रेय ऋषि ने उसे भगवान् के निजधाम पधारने का समाचार सुनाया।

एकादश स्कन्ध में, 'भागवत-धर्म' बताया गया है। महाराष्ट्र के सत्पुरुष एकनाथ महाराज ने इसी ११वें स्कन्ध पर १८,००० पद्यों में टीका लिखी है। बचपन में मैंने उसे पढ़ा था। तब से एकादश स्कन्ध के लिए मुझे आकर्षण था। उसमें कुछ बातें ऐसी हैं, जिनमें खास सार है। इसलिए मैंने उसका सार निकालकर संकलन किया है।

११वें स्कन्ध का ११वाँ अध्याय अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। उसमें भगवान् ने ज्ञान बताया है, भक्ति बतायी है और मुक्ति का स्वरूप भी बताया है। साथ ही और भी कुछ ऐसी बातें बतायी हैं, जो अत्यन्त महत्त्व रखती हैं।

( ११.१ ) **बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।**
**गुणस्य मायामूलत्वात् न मे मोक्षो न बंधनम्॥**

—११.११.१.

भगवान् कहते हैं : **न मे मोक्षो न बन्धनम्**—न मुझे मोक्ष है और न बन्धन। तुकाराम महाराज का एक अतिप्रसिद्ध अभंग है :

**मुक्त कासया म्हणावे। बंधनचि नाही ठावे॥**

अर्थात् जिसकी यह स्थिति है कि बन्धन क्या होता है, यही मालूम नहीं, उसे 'मुक्त' कहना चाहिए। छुट्टी के दिन बच्चे आनन्द का अनुभव करते

हैं, क्योंकि बाकी दिन वे स्कूल को बन्धन महसूस करते हैं। जहाँ बन्धन होता है, वहाँ मुक्ति नहीं आती। भगवान् कहते हैं कि मेरी दृष्टि में न बन्धन है और न मोक्ष।

**न मे मोक्षो न बन्धनम्** का यह अर्थ करें कि 'मुझे मोक्ष नहीं और बन्धन नहीं' तो उसका हमें कोई लाभ न होगा। कारण, भगवान् स्वयं इन दोनों से परे हैं। इसलिए 'मेरी दृष्टि में न बन्धन है, न मोक्ष है' यही अर्थ हमारे लिए लाभदायी है, उपयोगी है।

बद्ध मुक्त ऐसी व्याख्याएँ की जाती हैं, लेकिन वे गौण हैं; क्योंकि वे गुणों पर आधृत हैं। वस्तुतः वह कोई वस्तु ही नहीं। शंकराचार्य ने एक उपमा द्वारा बताया है कि मन ही बन्धन है और मन ही है मोक्ष। वे कहते हैं :

**वायुनाऽऽनीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते।**

अर्थात् वायु बादलों को ले आती है तो सूर्य ढँक जाता है। वही जब बादलों को हटा देती है तो सूर्य दीखने लगता है। आखिर बादलों को कौन ले आया और कौन वापस ले गया? वायु ही। बादलों के कारण सूर्य नहीं दीखता तो हम कहते हैं कि 'सूर्य ढँक गया।' वास्तव में सूर्य नहीं, हमारी आँखें ढँकी हैं। सूर्य को बादल क्या ढँक सकेंगे? वह स्वयं-प्रकाशक है। उसे ढँकने की सामर्थ्य किसीमें नहीं। तो भी हम कहते हैं : बादलों से सूर्य ढँक गया, बँध गया। जब बादल छँट जाते हैं तो कहते हैं कि सूर्य को मुक्ति मिल गयी। ठीक इसी प्रकार मन विकार ले आया तो हम (आत्मा) बद्ध हो गये और मन ने ही विकार हटा दिये तो हम मुक्त हो गये। मन ही बन्धन में डालता है और वही मुक्त भी करता है। इसीलिए कहा है :

**बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।**

गुण कैसे होते हैं? तो कहते हैं : **गुणस्य मायामूलत्वात्**—सारे गुण मायामूलक हैं। वे टिकते ही नहीं। अभी आप मेरा प्रवचन सुन रहे हैं। इस समय आपमें सत्त्वगुण है। मान लीजिये, मेरा प्रवचन दो-तीन घण्टे चलता रहा, तो आप सब झपकी लेने लगेंगे। यानी आपमें तमोगुण आ जायगा। भूख लग जाय तो रजोगुण आ जायगा। मतलब यह कि गुण समय-समय पर बदलते रहते हैं। अतएव गुणों के कारण जो

बनता है, वह वास्तव में है ही नहीं। बद्ध और मुक्त गुण के परिणाम हैं, इसलिए वे भी वास्तव में नहीं हैं। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि मेरी दृष्टि में न बन्धन है और न मोक्ष। बन्धन मिथ्या है और मोक्ष भी मिथ्या है।

इतना सारा कहकर भगवान् क्या कहना चाहते हैं? इससे क्या बना? इसमें बनने का कुछ भी नहीं है। हमें मानव बनना है, लेकिन हम मानव से भी बढ़कर हैं। आपसे पूछा जाय कि 'आप कौन हैं?' तो कहेंगे: 'हम पंजाब के हैं।' फिर कहेंगे: 'भारतीय हैं।' जब यह बन्धन हट जायगा तो कहेंगे: 'हम मानव हैं।' लेकिन इतना कहने से हम व्यापक नहीं बन सकते। 'हम सभी भूतों में सम्मिलित हैं' ऐसी हमारी भावना होनी चाहिए। फिर, गाय, घोड़ा, बैल, गदहा, बाबा सब एक हो जाते हैं। लेकिन यह कौन कबूल करेगा? फिर भी यह स्पष्ट है कि जब तक बाबा यह नहीं समझता कि मैं गधे जैसा ही हूँ, तब तक वह बन्धन में हा है। 'मैं भूतमात्र हूँ' एसी भावना होनी चाहिए।

मैंने 'गीता-प्रवचन' में अनुभव की एक मिसाल दी है—हम दरवाजा खोलते और बन्द करते हैं। वह आवाज करता है। मतलब यह कि वह रो रहा है। उसे तेल दे दो तो शान्त हो जायगा। चरखा चलाना शुरू करें तो वह भी रोता है और तेल दे दो तो खुश हो जाता है। मतलब यह कि चरखा और मैं समान हूँ। वह भी सदानन्दरूप है और मैं भी सदानन्दरूप। सारांश, जिसे सृष्टि के साथ एकरूप होना सध गया, वह मुक्त हो गया!

मुक्त हुआ यानी क्या? वास्तव में हम वही हैं, लेकिन बेवकूफी से मुक्त हो गये। यह केवल पहचानने की बात है। दूसरे लोग भले ही हमें मुक्त कहें, हम इतना ही कहेंगे कि 'हम हैं।' यदि आप सूर्यनारायण से कहें कि 'आप अन्धेरा दूर करते हैं, दुनिया का कितना बड़ा काम कर रहे हैं' तो वे कहेंगे: "मैं तो कुछ करता ही नहीं। अन्धेरा है कहाँ?' सूर्यनारायण यह नहीं कहते कि 'मैं अन्धेरा दूर करता हूँ।' इसी तरह मुक्त पुरुष, दुनिया में है तो, आपसे यही कहेगा कि 'मैं नहीं जानता कि मुक्ति क्या चीज है। आप ही बताइये कि वह क्या है?' कारण वह जानता ही नहीं कि वह मुक्त है। इसलिए यहाँ न बनाने की बात है

और न बनने की। वह है ही। ये बन्धन और मोक्ष वास्तविक नहीं, प्रातिभासिक मात्र हैं।

आगे भगवान् कह रहे हैं कि मनुष्य को जो शोक-मोह, सुख-दुःख होते हैं, वे सारे देहजन्य हैं। वे भी वास्तविक नहीं।

**( ११.२ ) शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च मायया।**
**स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर् न तु वास्तवी॥**

—११.११.२.

**शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च मायया**—अर्जुन को मोह हुआ था। उसकी बुद्धि पर मोह के पटल छा गये थे और उसीके कारण उसे शोक हुआ था। अन्ततः वह स्वयं भगवान् से कहता है कि 'अब मेरा मोह दूर हो गया।' शोक और मोह ही संसार का रूप है। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख सतत आते-जाते रहते हैं। वे प्रातिभासिक हैं।

अभी हम बाहर खुली हवा में बैठे हैं तो सुख का अनुभव करते हैं। अन्दर जायँगे तो गर्मी के कारण दुःख होगा। बाहर धूप बढ़ जाय तो यहाँ दुःख होने लगेगा और अन्दर जायँगे तो सुख होगा। वस्तुतः वह है ही नहीं, हमारी अपेक्षा से हुआ करता है। तरकारी में नमक कम हुआ तो एक को अच्छी नहीं लगती। ज्यादा हुआ तो दूसरे को अच्छी नहीं लगती। मैंने नमक खाना छोड़ दिया तो तरकारी कैसी लगी? तरकारी तरकारी जैसी लगी। इन्द्रियों की रचना ही ऐसी है कि इधर ज्यादा हुआ तो अच्छा नहीं लगता, उधर कम हुआ तो वह भी नहीं चलता। सुख-दुःख इन्द्रियों के कारण होते हैं। देह की उत्पत्ति माया के कारण है। वह भी प्रातिभासिक है।

भगवान् ने स्वप्न की मिसाल दी है: **स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर् न तु वास्तवी**—स्वप्न में आप कश्मीर गये। जागृत होने पर कश्मीर तो आपके पास कहीं है नहीं। यानी स्वप्न काल्पनिक है। **आत्मनः ख्यातिः**—अपनी कल्पनामात्र है। संसार-व्यवहार स्वप्नवत् है, वह वस्तुस्थिति नहीं है। लालबहादुर शास्त्रीजी गये। जिस दिन वे गये, उन दिन दिनभर उन्होंने काम किया। परिवारवालों से फोन पर बातें कीं। 'कल अमुक निश्चित समय पर दिल्ली पहुँचूँगा' कहा। फिर

सो गये, बीच में उठे और चले गये। ताशकन्द से दिल्ली आने में हवाई जहाज से चार घण्टे लगते हैं, लेकिन आठ मिनट के अन्दर वे परलोक चले गये। इसलिए समझना चाहिए कि **रहना नहिं देश बि ाना है**। यह सारा स्वप्न-जैसा ही है। इतना ही अन्तर है कि निद्रा में स्वप्न थोड़ी अवधि के लिए होता है, जब कि यह स्वप्न ६०-७० साल लंबा चलता है। इसीलिए वास्तविक-सा लगता है।

जैसे जगने के बाद स्वप्न मिथ्या मालूम होता है, वैसे ही मृत्यु के बाद जीवन का स्वप्न भी मिथ्या मालूम पड़ता है। मृत्यु के बाद और जन्म के पहले अनन्त काल पड़ा है। बीच में ६०-७० साल की थोड़ी-सी अवधि हमें मिली थी। अनन्त काल में यह ६०-७० साल की अवधि शून्यवत् है। वेदान्त जो यह बोल रहा है, वही अब गणित भी बोलने लगा है। 'रेडियो एस्ट्रानॉमी' का शास्त्र अभी नया विकसित हुआ है। वह कहता है कि सृष्टि में अनन्त ग्रह हैं। इसलिए तुम्हारा जीवन शून्य है। भगवान् भी कहते हैं कि यह संसार वास्तविक नहीं, काल्पनिक है।

फिर वह हमें वास्तविक क्यों लगता है? भगवान् इसका कारण बतलाते हैं:

**(११.३) विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव! शरीरिणाम्।**
**मोक्षबंधकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥**

—११.११.३.

विद्या और अविद्या मेरे दो रूप हैं। विद्या है जानना और अविद्या न ...जानना। जो कुछ फरक पड़ता है, वह जानने से ...या न जानने ...ले, है. वस्तुस्थिति के कारण नहीं।

...िहार, ...पता का एक बेटा अमेरिका गया था। वहाँ वह मर गया। छह महीने बाद उसके मरने की खबर पिता के पास आयी। तब तक पिता आनन्द में था। समझता था कि लड़का अमेरिका में मजे में है, लेकिन लड़का तो मर चुका था। यदि वह जानता कि लड़का मर गया, तो उसे दुःख होता। मतलब, दुःख मृत्यु के ज्ञान से होता है।

दूसरी एक मिसाल। लड़का अमेरिका में था और बाप इधर, हिन्दुस्तान में। एक दिन अमेरिका से तार आया कि लड़का मर गया। बाप दुःख करने लगा। वास्तव में लड़का मरा नहीं था, किसी गलती के

कारण उस तरह का तार आ गया था। मतलब, लड़का मर गया, यह जानने के कारण पिता को दुःख हुआ। यह विद्या का लक्षण है। यदि मृत्यु के कारण दुःख होता तो उधर लड़का मरते ही इधर बाप को दुःख होना चाहिए था। पर जानने के बाद दुःख हुआ। इसलिए स्पष्ट है कि विद्या और अविद्या के कारण ही सुख-दुःख हुआ करते हैं।

फिर ये दोनों प्राणियों को बन्धन और मोक्ष में डालते हैं। यदि आप इन्हें पहचान लेते हैं, तो आपका इनसे छुटकारा हो सकता है। नहीं तो विद्या के कारण मोक्ष और अविद्या के कारण बन्धन में पड़ेंगे। वास्तविक आनन्द इसीमें है कि 'मैं हूँ।' अस्तित्व का ही आनन्द है। उसीको 'सच्चिदानन्द' कहते हैं।

**आद्ये मायया मे विनिर्मिते**—माया पुराने जमाने से चली आयी है। दस हजार साल का अन्धेरा क्या कभी एकदम खतम हो सकता है? फिर भी यदि आप वहाँ दीपक लाते हैं तो उसी क्षण वह खतम हो सकता है, चाहे कितना ही पुराना क्यों न हो। कारण अन्धेरे का अपना अस्तित्व ही नहीं है। वह नाचीज है। लेकिन अन्धेरा कोई चीज नहीं, इसलिए दीपक के बिना जायँगे तो पत्थर से ठोकर लगेगी। विद्या और अविद्या पुरातन काल से चली आ रही हैं। जैसा सनातन धर्म होता है, वैसा ही सनातन अधर्म भी होता है। एक है जानने के कारण, तो दूसरा है न जानने के कारण। ज्ञान और अज्ञान केवल बोलने की ही बात है। आत्मा को वह चीज लागू नहीं होती। भगवान् कहना चाहते हैं कि ये ज्ञान और अज्ञान दोनों मिथ्या हैं। एक ज्ञानी है, एक बेवकूफ। एक शेर है तो एक गाय। चारों सो गये तो सभी समान हैं। यदि ज्ञान सही है वह वह निद्रा में क्यों नहीं टिक पाता? अतः जैसे अज्ञान मिथ्या, वैसे भी मिथ्या है। इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि बन्धन, मोक्ष, विद्या, अविद्या ये सारे मिथ्या हैं, माया से निर्मित हैं।

(११.४) **अेकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते!**
**बंधोऽस्याविद्ययानादिर् विद्यया च तथेतरः॥**

—११.११.४.

भगवान् कह रहे हैं कि ये सारे जीव मेरे ही अंश हैं और वे सभी एक ही अंश हैं, अलग-अलग नहीं हैं—**एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव**

महामते। लेकिन यह मानेगा कौन ? किसीका चित्त साफ है, तो किसीका नहीं। उसका आत्मा ढँका हुआ है। यानी ढँका हुआ-सा लगता है—विकारों के कारण। चित्त को साफ करना ही मुख्य जीवन-साधना है। लालटेन का काँच साफ न हो तो अन्दर की ज्योति का प्रकाश नहीं मिलता। काँच साफ रहता है तो प्रकाश मिलता है। इसी तरह आत्म-प्रकाश तब प्रकट होगा जब चित्त साफ होगा। मनुष्य चाहे कितना भी विद्वान् हो, विद्या-अविद्या तो उसे बन्धन और मोक्ष में डालती ही हैं।

**( ११.५ ) देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।**
**अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा॥**

—११.११.८.

विद्वान् किसे कहा जाय? तो कहते हैं: **देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान्**—जो देह में रहते हुए भी देह में नहीं रहता, उससे अलग रहता है, वह विद्वान् है। **स्वप्नाद् यथोत्थितः**—जैसे स्वप्न से जाग जाने के बाद मनुष्य को स्वप्न का भान नहीं होता। विद्वान् मनुष्य भी देह को स्वप्न ही मानता है। लेकिन **अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः**--जो अविद्वान् होता है, वह देह में न रहते हुए भी देह में रहता है। देह ढह रही है, मर रही है, फिर भी उसे नहीं छोड़ता। मतलब यह कि यह देह जायगी, तो दूसरी देह पकड़ेगा। यहाँ के मालिक ने धक्का देकर निकाल दिया, तो दूसरा घर ढूँढ़ेगा। वह खुली हवा से भी घबड़ाता है। बिना देह के उसे चैन ही नहीं। पर विद्वान् देह में रहते हुए भी समझेगा कि 'मैं इसमें नहीं हूँ, अपने में हूँ।'

लोग बोलते हैं कि हम बिहार में रहते हैं। इतना लम्बा-चौड़ा बिहार, उसमें आपकी क्या गिनती ? फिर कहते हैं, हम 'सिंहभूम' जिले में रहते हैं। फिर कहेंगे, हम 'जमशेदपुर' में रहते हैं। बाद में कहते हैं, हम घर में रहते हैं। बात तो ठीक है, घर तो है, लेकिन इतने बड़े घर में आप कहाँ रहते हैं ? कहते हैं, हम देह में रहते हैं। इस तरह अपने ऊपर 'बाइंडिंग' ( जिल्द ) का एक-एक कवर ( वेष्टन ) चढ़ाते जाते हैं। किताब पर तो एक ही बाइंडिंग होती है, लेकिन इन पर एक पर एक कई बाइंडिंग चढ़ी होती हैं—देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, हृदय ! उसके अन्दर परमात्मा है। लेकिन लोग अन्दर रहने के बजाय बाहर ही रहते हैं।

'कुमति' यानी अल्प बुद्धि। तुकाराम महाराज ने कहा है :

**काजव्याची ज्योति। तुका म्हणे न लगे वाती ॥**

'खद्योत ( जुगनूँ, ) की ज्योति है, उससे कोई दिया जलाने जायगा तो कैसे जलेगा ? वह ज्योति केवल देखनेभर की ही है। उससे लोगों को प्रकाश तो मिलता नहीं, फिर भी वह स्वयं खुश है।

भगवान् ने थोड़ी-थोड़ी बुद्धि सबको बाँट दी है और बहुत बड़ा हिस्सा अपने पास रख लिया है। जो थोड़ी बुद्धि उसने बाँटी है, उसीसे हम सबका काम चल जाता है। हमारा काम है भी कितना ? भगवान् के हिसाब से बहुत ही थोड़ा, इसलिए अक्ल भी थोड़ी है। जो थोड़ा हिस्सा हमें मिला है, उसी पर हम सन्तुष्ट हैं। जो मनुष्य स्वप्न में है, वह उस अल्पबुद्धि पर ही सन्तुष्ट है।

कुछ लोग तो अपनी विद्या अक्षरों में बताते हैं। एक भाई ने मुझसे कहा कि 'मैं एम० ए० हूँ।' वह खुद को बहुत बड़ा विद्वान् मानता था। मैंने उससे कहा : 'केवल एम० ए० से नहीं चलेगा, उसके आगे डी० भी जोड़ दो।'[1] ऐसी सारी विद्या है। स्वप्न में राजा था, लेकिन जागने पर देखता है तो घर में खाने को भी नहीं है!

इसलिए पहचानने की चीज यही है कि मैं देह से अलग हूँ। इन्द्रियों से, मन-बुद्धि से अलग हूँ। ये तो हमारे औजार हैं। जैसे हम घड़ी का इस्तेमाल करते हैं, वैसे ही मन का भी। जैसे हम घड़ी को दुरुस्त करते हैं, वैसे ही मन का दोष जानकर उसे भी दुरुस्त कर सकते हैं। किसीने 'बेवकूफ' कहा, तो हमें गुस्सा आता है। वास्तव में गुस्सा आना नहीं चाहिए। वह दोष था बुद्धि का। यदि सचमुच दोष है, तो उसे दुरुस्त करें। दोष नहीं है, तो कह दें कि हमारी बुद्धि निर्दोष है। पहचानना चाहिए कि हम बुद्धि नहीं, हम ( आत्मा ) हैं।

**( ११.६ ) इंद्रियैरिंद्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।**
**गृह्यमाणेष्वहं कुर्यात् न विद्वान् यस्त्वविक्रियः ॥**

—११.११.९.

अब 'विद्वान्' का विवरण करते हैं : विद्वान् अहंकार नहीं रखता। ने विषयों को ग्रहण किया, ऐसा वह नहीं मानता : गृह्यमाणेष्वहं न

१. एम ए डी = मैड = पागल।

कुर्यात् विद्वान्। वह पहचानता है कि विषयों को इन्द्रियों ने ग्रहण किया। वह देह को अपने से भिन्न मानता है। इन दिनों आपरेशन के समय क्लोरोफार्म देते हैं। उससे भी यह बात साफ होती है कि हम देह से भिन्न हैं। फिर भी आदमी समझता है कि मैं देह ही हूँ। देह को खाना खिलाया तो खुश होता हूँ। संगीत सुनता हूँ, तो खुश होता हूँ। आजकल बाबा के कान कम सुनते हैं। ४० प्रतिशत सुनने की शक्ति कम हुई, ऐसा कहा जाता है। मतलब, बाबा का एक बहुत बड़ा साधन गया। बाबा कहता है कि रास्ते पर मोटरें दौड़ती हैं, आवाज होती है, फिर भी मुझे शान्ति मालूम होती है। होना यही चाहिए कि कान सुनते हैं, फिर भी सुनते नहीं। आँखें देखती हैं, फिर भी देखती नहीं। यही चीज हमें सीखने की है, जिससे मनुष्य का जीवन सफल हो सकता है। यही विद्या है।

कितना खाना चाहिए, वह तय करने का अधिकार पेट का है। चीज ठीक है या बे-ठीक, यह देखने का काम जिह्वा का है। लेकिन कोई चीज मीठी लगी तो जिह्वा कहती है कि ज्यादा खा ले। हमारे पिताजी कहा करते थे कि 'तुम्हें मुँह में, लड्डू मीठा लगता है तो उसे पेट में ढकेलने की जल्दी क्यों करते हो ? ज्यादा देर तक मुँह में रहने दो, चबा-चबाकर खाओ और पूरा चबाने के बाद उसे पेट में ढकेलो तो कम खाकर ज्यादा प्रसन्नता होगी।' लेकिन आज पेट पर जिह्वा का अधिकार चलता है। जिह्वा ज्यादा खाना चाहती है, पर पेट नहीं चाहता। इसलिए मैंने सुझाया कि चीज जिह्वा पर रखो। जितनी देर चाहते हो, उतनी देर मुँह में रखो और बाद में थूक दो। पेट में ढकेलने का क्या कारण ? मतलब यही कि अंदर का मालिक बेवकूफ है, गाफिल है। उसे जिह्वा से कहना चाहिए कि जुल्म मत कर। लेकिन यह करेगा कौन ? वही, जो समझेगा कि मैं उससे अलग हूँ।

**(११.७) दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।**
**वर्तमानोऽबुधस् तत्र कर्तास्मीति निबध्यते ॥**

—११.११.१०.

अब भगवान् अज्ञानी मनुष्य का लक्षण बता रहे हैं—**अबुधः** यानी अज्ञानी। **अस्मिन् दैवाधीने शरीरे**—शरीर कैसा है ? दैवाधीन है। मैंने

एक बहन को पत्र लिखा था। वह एक सार्वजनिक सेविका है। मैंने उसे लिखा कि 'सार्वजनिक सेवक को कभी कर्जा नहीं लेना चाहिए और न कर्जा देना चाहिए। वे दान ले सकते हैं और दे भी सकते हैं, लेकिन कर्जा नहीं। कारण कर्जा लेने में वादा होता है कि वह अमुक समय तक वापस किया जायगा, आदि। लेकिन जीवन का क्या भरोसा है? जो शरीर दैव के अधीन है, उसमें रहकर वादा होता है। किन्तु उस शरीर पर भरोसा कैसे रख सकते हैं?'

**(११.८) एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने।**
**दर्शन-स्पर्शन-घ्राण-भोजन-श्रवणादिषु॥**

—११.११.११.

भगवान् ज्ञानी का वर्णन कर रहे हैं: ज्ञानी क्या नहीं करता? ज्ञानी सोता है, बैठता है, घूमता है, सुनता है, देखता है, भोजन करता है, श्रवण करता है। वह सब कुछ करता है, फिर भी विरक्त रहता है। वह भोजन करेगा, भूखा नहीं रहेगा, लेकिन उससे विरक्त रहेगा।

**(११.९) न तथा बध्यते विद्वान् तत्र तत्रादयन् गुणान्।**
**प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः॥**

—११.११.१२.

वह गुणों का स्वीकार करेगा। **तत्र तत्रादयन् गुणान्**—इन्द्रियों के जो गुण हैं, वे भी लेगा, लेकिन उनसे बँध नहीं जायगा। क्योंकि, वह उनमें आसक्त नहीं रहता। ठंड लग रही हो तो वस्त्र ओढ़ लेगा और गरमी हो रही हो, तो फेंक देगा—इस तरह अनासक्त रहेगा। आजकल तो लोग गरमी में भी कुरता पहने रहते हैं। कुरता न पहनेंगे, तो वह सभ्यता का लक्षण नहीं माना जायगा। बाबा को जब गरमी महसूस होती है, तो वह ऊपर की चादर फेंक देता है। तो, अब यह तय करना होगा कि देह को कुरते की तरह धारण करना है या बाबा की चादर की तरह? कुरते की तरह धारण करेंगे तो गरमी होते हुए भी उसे पहनना होगा। होना तो यह चाहिए कि शरीर फट गया, तो उतारकर रख दिया। इसीका नाम है मरण। इतनी सरल चीज है, यह! यदि कोई मनुष्य मरता है, तो रोने-चिल्लाने की कोई जरूरत नहीं। ज्ञानी ऐसी विरक्ति से सारी क्रियाएँ करता है। प्रवृत्ति में रहते हुए भी वह उसमें आसक्त नहीं होता।

इसके लिए यहाँ तीन सुन्दर उपमाएँ दी गयी हैं : **यथा खं सविता अनिलः**। जैसे १. आकाश को ही लीजिये। बारिश आयी-गयी, मेघ आये-गये, आकाश को वे चिपकते नहीं। २. सूर्यनारायण है। वह सबको प्रकाश देता है। फिर उसके प्रकाश में आप चाहे भागवत पढ़ें, चाहे उपन्यास। सूर्यनारायण यह नहीं कहेगा कि भागवत मत पढ़िये या भागवत पढ़िये। प्रकाश देना ही उसका काम है। 'मिल्टन' के बारे में वर्डस्वर्थ ने कहा है: 'तेरी आत्मा ऐसी ही अलग रहेगी, जैसा सूर्य।' आपकी भलाई या बुराई का जिम्मा वह नहीं उठायेगा। इसीका नाम है **असंसक्त**। ३. अनिल या पवन का भी यही हाल है। वह आज यहाँ है, तो कल वहाँ। बिलकुल अनासक्त ! सबके व्यवहार में मदद करता है और सबसे अलिप्त रहता है। वैसे ही सबके व्यवहार में हम मदद करें, लेकिन अलग हो जायँ।

इसका यह मतलब नहीं कि शराब पी लें और उससे अलग हो जायँ। शराब पीना कोई कर्तव्य नहीं। यदि कुछ खाने-पीने की जरूरत हो और उसे वह कर्तव्य समझता हो, तो खा-पी सकता है, बैठ सकता है। मतलब यह कि आवश्यक या योग्य काम करता हुआ वह अनासक्त रहता है। इन्द्रियों से विषय-सेवन करते हुए भी अनासक्त ! भोजन करते समय पेट में कुछ डालना शरीर के लिए आवश्यक है, यह खयाल रखकर वह भोजन करेगा। इसलिए उसके हाथ में कुञ्जी है। कितना खोलना, यह तय करके वह उतना ही खोलता है और बाकी बन्द रखता है। इसके लिए गीता में कछुए की उपमा दी गयी है। जहाँ धोखा होता है, वहाँ वह अपनी सारी इन्द्रियाँ अन्दर खींच लेता है। जब सुरक्षितता महसूस होती है, तो बाहर निकालता है। इन्द्रियों को कब खोला जाय और कब बन्द किया जाय, यह तय करके ही ज्ञानी कोई काम करता है। यानी विद्वान् विषयों का ग्रहण करते हुए भी उनका असर अपने पर नहीं होने देता, उनसे बँध नहीं जाता। वह **आदयन् गुणान्**—गुण लेता है, लेकिन उनका भी परिणाम होने नहीं देता।

वायु, सूर्यनारायण और आकाश, ये जो तीन उपमाएँ दीं, उनमें तीन अवस्थाएँ हैं। सूर्य आपके व्यवहार से अत्यन्त ऊँचा है। सूर्य को आप छू नहीं सकते, पर वह ऊँची जगह रहकर भी आपकी मदद कर पाता है। वह आपके व्यवहार में शामिल नहीं। आकाश आपके व्यवहार में

शामिल नहीं, पर आपके व्यवहार में ओत-प्रोत, भरा हुआ है। आपके सभी व्यवहारों में वह शामिल है। फिर भी आप उसे लेप नहीं लगा सकते। दीवार को आप रंग लगा सकते हैं, पर आकाश आपके आसपास छाया होने पर भी आप उसे रँग नहीं सकते। पवन कैसा है ? बाबा की यात्रा ही समझो। मात्र एक दिन का सम्बन्ध ! आज एक जगह, तो कल दूसरी जगह। जहाँ जायगा, वहाँ लोगों की कुछ मदद करेगा और लोगों से मदद भी लेगा। लोग बाबा को खिलायेंगे-पिलायेंगे और वह लोगों के मसले हल करने में मदद करेगा। दूसरे दिन आगे बढ़ेगा। इसी तरह पवन भी परिव्राजक है। वह कहीं नहीं चिपकता।

ये तीन प्रकार के ज्ञानी हुए। अब आप सोचिये कि इन तीनों में सबसे कठिन स्थिति किसकी है ? देखने में तो पवन का काम आसान दीखता है और आकाश का कठिन। यदि आकाश के समान बनना चाहें, तो आपको बिलकुल शून्य बनना होगा। आकाश शून्य है। शून्य बनना कठिन मामला है। सूर्य का काम भी आसान दीखता है। वह ऊँचा रहता है और स्वयं कुछ नहीं करता। हमें लगता है कि वह प्रकाश देता है, लेकिन वह प्रकाश नहीं देता, हमें उससे प्रकाश मिलता है। 'मैं हूँ' इसके अलावा और कुछ वह जानता ही नहीं। लेकिन उसका ज्ञान इतना प्रखर है कि उसके द्वारा वह सबके पास पहुँचता है। पवन में सेवा-वृत्ति है। वह सेवा करता और भाग जाता है। सूर्य में ज्ञान-प्रखरता है। वह अत्यन्त प्रखर है। वह यदि आपकी सेवा करने के लिए आपके घर आये, तो क्या आप उसे स्वीकार करेंगे ? इसी तरह अत्यन्त प्रखर ज्ञानी यदि दुनिया में प्रकट हों, तो दुनिया जल जायगी। इसलिए वे दूर रहकर ही मदद करते हैं। आकाश शून्य है। आकाश में निरहङ्कारता का लक्षण है। पवन में अलिप्त सेवा का लक्षण है, तो सूर्य में प्रखर ज्ञान का लक्षण। इनमें से यदि किसी एक को चुनना हो तो वह मुश्किल होगा, क्योंकि सबकी सब अवस्थाएँ कठिन हैं, सरलता से प्राप्त होनेवाली नहीं। लेकिन कठिन काम करने के लिए ही तो मानव-जन्म है !

मुक्त पुरुष की लीला भगवान् समझा रहे हैं :

**( ११.१० ) वैशारद्येक्षयाऽसंग-शितया छिन्न-संशयः।**
**प्रतिबुद्ध इव स्वप्नात् नानात्वाद् विनिवर्तते ।।**

—११.११.१३.

मुक्त पुरुष कैसा होता है ? **छिन्नसंशयः**—उसके सारे संशय मिट जाते हैं। जब तक मन में संशय रहेगा, तब तक मुक्ति का प्रश्न ही नहीं, गोते लगाते रहें। मुक्त पुरुष के सारे संशय कट जाते हैं। संशय किस तरह काटे जायँ ? **ईक्षया**—दर्शन अथवा ज्ञान से। कैसे ज्ञान से ? **वैशारद्य ( + ईक्षया )**—निर्मल ज्ञान, निर्मलता से। आजकल एक शब्द चल पड़ा है 'विशारद' यानी प्रवीण। किन्तु यहाँ 'वैशारद्य' का अर्थ है निर्मल। शरद् ऋतु में आकाश साफ होता है। बादल नष्ट होते और आकाश निर्मल हो जाता है। इसी 'शरद्' शब्द से 'वैशारद' शब्द बना। इस प्रकार **'वैशारद्येक्षा'** का अर्थ हुआ निर्मलतायुक्त ज्ञान, स्वच्छ-निर्मल ज्ञान। निर्मल ज्ञान से संशय कट गये। संशय काटने के लिए ज्ञानरूपी तलवार चाहिए। तलवार को धार चढ़ानी पड़ती है। धार चढ़ाने के औजार को 'शाण' कहते हैं। इसी शब्द पर से 'शित' शब्द बना है। शित यानी प्रखर। **शितया**—प्रखर ज्ञान से। फिर वह ज्ञान **असंग**—अनासक्त भी चाहिए। अनासक्ति की धार न हो, तो ज्ञान प्रखर नहीं होगा। चित्त का कहीं लगाव न होगा, तभी ज्ञान-प्राप्ति होगी। न्यायालय में न्यायाधीश दोनों पक्षों की बातें सुनकर तटस्थता से सोचता और केवल सत्य देखता है। उसका ज्ञान यथार्थ होता है, क्योंकि वह किसी पक्ष से चिपका नहीं रहता। मतलब यह कि ज्ञान के लिए चिपका हुआ चित्त काम का नहीं। सारांश, मुक्त पुरुष कैसा है ? उसने अनासक्ति से ज्ञान को प्रखर बनाया और इसी कारण उसके सारे संशय कट गये।

ऐसा मनुष्य नानात्व की पकड़ में कभी नहीं आता। **नानात्व** यानी भेदभाव। **नानात्वाद् विनिवर्तते**—वह नानात्व से निवृत्त हो जाता है। इसका स्वार्थ अलग और मेरा अलग, इस प्रकार **आप-पर-भाव** उसके पास नहीं रहता। भागवत में नानात्व पर बार-बार प्रहार किया गया है। बड़ा मुश्किल है यह नानात्व मिटाना !

माता को एक हद तक यह सधा होता है। वह यह कभी महसूस नहीं करती कि बच्चे का स्वार्थ अलग है और मेरा स्वार्थ अलग। बच्चे भले ही महसूस करते हों, पर माँ यही समझती है कि जो बच्चे का स्वार्थ, वही मेरा स्वार्थ है। जो ऐसा माने, वही आदर्श माता है। माँ की नानात्व-निवृत्ति उतनी हद तक हो गयी है। फिर भी सारी दुनिया के साथ व्यापक अनुभूति हो, यह बात उसके लिए भी कठिन है। किन्तु

यदि विवेक हो, निर्मल बुद्धि हो, अनासक्ति हो तो यह अवश्य सध सकता है। नानक ने कहा है :

**सबमे रम रहिया प्रभु एकै। पेखि पेखि नानक बिगसाई॥**

अर्थात् 'सबमें एक ही प्रभु है, यह देख-देखकर मुझे खुशी होती है।' यह अनुभूति असम्भव नहीं। एक बार यह बात ध्यान में पैठ जाय तो सरल है, आसान है। माँ को बच्चों के लिए कष्ट सहने में आनन्द होता है, इसीलिए बच्चों को हद तक उसका नानात्व घटा है। यदि नानात्व घटाने में आनन्द बढ़ने की अनुभूति हो, तो उसे और घटाने और अन्ततः मिटा देने में उससे भी अधिक आनन्द की अनुभूति होगी।

यदि हम अपने को फैला दें, तो उसमें अधिक आनन्द आयेगा। जो चीज छोटे परिमाण में सिद्ध होती है, वह बड़े परिमाण पर लागू की जा सकती है। परिवार एक प्रयोगशाला है। उसमें फैलाने का प्रयोग आपने किया। दूसरे के स्वार्थ में अपना स्वय का स्वार्थ डुबा दिया, यानी अपने स्वार्थ को फैलाया। आपको अनुभव आया कि आपका स्वार्थ बढ़ा! इस तरह अपना स्वार्थ फैलाने में, व्यापक करने में खतरा तो दीखता ही नहीं। फिर डरने की क्या बात है? जितनी व्यापक अनुभूति होगी, उतनी ही आनन्द में वृद्धि होती जायगी।

तुकाराम महाराज की कहानी है। वे ज्ञानदेव महाराज की समाधि पर गये थे। ज्ञानदेव महाराज महाराष्ट्र के बड़े सन्त-पुरुष हो गये हैं। तुकाराम महाराज समाधि के सामने पेड़ के नीचे खड़े हो गये और साष्टांग ( दण्डवत् ) प्रणाम किया। इस बीच पेड़ पर जो पक्षी बैठे थे, वे एकदम उड़ गये। तुकाराम महाराज दुःखी हुए कि मेरे डर से पक्षी उड़ गये! वे वहीं शान्ति से खड़े हो गये—पेड़ के समान शान्त! कुछ समय बाद पक्षी उनके कंधे पर आ बैठे। तब उनको बहुत आनन्द हुआ। जब तक भगवान् का दर्शन नहीं होगा, तब तक ऐसी साम्यावस्था नहीं आयेगी।

**अवघीं भूते साम्या आलीं। देखिलीं म्यां कैं होती।**
**विश्वास तो खरा मग। पांडुरंग कृपेचा॥**

—जब सभी भूत साम्यावस्था में पहुँच गये हैं, ऐसा अनुभव आयेगा तभी भगवान् का दर्शन होगा। तुकाराम महाराज कहते हैं कि जो भी मुझे मिलता है, वह मैं ही हूँ, ऐसा मुझे लगता है। साम्यावस्था का यह जो

अनुभव है, उसीमें आनन्द है। नानात्व का भास नहीं होगा, मेरा ही रूप सब भूतों में दिखाई देगा, तो आनन्द आयेगा। बात कठिन दीखती है, लेकिन प्रयत्न करने पर निश्चय ही सधने जैसी है।

स्वप्न से जागा हुआ मनुष्य जानता है कि जो देखा था, वह सही नहीं। वैसे ही एक बार यदि भान हो जाय कि नानात्व का भास सही नहीं है, तो प्रतीति होगी कि सर्वत्र मैं ही मैं व्याप्त हूँ। ऐसे महापुरुष हमारे देश में हो गये, जिन्हें यह अनुभूति हुई कि दुनिया मुझसे भिन्न नहीं है। दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी इस तरह के पुरुष हुए हैं।

नानक की कहानी है। पिता ने उन्हें गल्ले की दूकान पर बिठाया। खरीददार आये। गल्ला तौलकर देना था। नानक तौलने लगे : 'एक, दो, तीन......ग्यारा, बारा, तेरा!' 'तेरा तेरा' ही कहते रहे, तेरह के आगे नहीं बढ़े। मतलब यह कि 'मेरा कुछ है ही नहीं, भगवन्! सब कुछ तेरा ही तेरा है!' फलस्वरूप आज पंजाब में एक नानक का ही नाम चलता है। इतने सारे राजा आये और गये, लेकिन किसीका भी नाम लोगों को याद नहीं। ऐसा क्यों हुआ? इसीलिए कि नानक ने पहचाना :

**बिसर गई सब तात पराई। जब ते साधु संगति मोहि पाई॥**

नानक कह रहे हैं कि मेरे लिए अब न कोई वैरी है, न कोई सगा।

सार यह कि इस व्यापक अनुभूति में महान् आनन्द भरा पड़ा है। हमें उस आनन्द को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। हमें अपने घर से बाहर देखने की कोशिश करनी चाहिए। घर में प्रेम है। लेकिन जैसे पानी एक ही जगह पर रहने से सड़ जाता है, वैसे ही प्रेम घर में कैद हुआ तो सड़ जाता है। उससे काम-वासना बढ़ती है। वह यदि परिवार के बाहर बहता रहे तो निश्चय ही व्यापक अनुभूति आयेगी।

**( ११.११ ) यस्य स्युर् वीतसंकल्पाः प्राणेंद्रिय-मनो-धियाम्।**
**वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्‌गुणैः॥**

—११.११.१४.

मुक्त मनुष्य देह में रहते हुए भी मुक्त रहता है। उसमें प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की वृत्तियाँ होती हैं। भूख लगती है। सामान्य जनों के समान उसकी जठराग्नि प्रज्वलित होती है। उसकी आँखें देखती हैं और

उनका परिणाम भी होता है। कान सुनते हैं, उनका भी परिणाम होता है। ये सारी वृत्तियाँ मुक्त पुरुष में भी होंगी, लेकिन संकल्परहित होंगी। अपनी वासना का संकल्प उनके साथ जुड़ा हुआ नहीं रहेगा। गीली मिट्टी का गोला या गोबर दीवार पर फेंकेंगे, तो वह वहीं चिपक जायगा। लेकिन गेंद फेंकेंगे तो वह नहीं चिपकेगी, वापस आयेगी। ज्ञानी के चित्त पर ये वृत्तियाँ गेंद-जैसी फेंकी जाती हैं। वे वहाँ चिपकती नहीं, वापस आती हैं। चित्त को छूकर भी उस पर टिकती नहीं, गिर जाती हैं। यानी निस्संकल्प वृत्ति होती है। वृत्ति पैदा होगी, लेकिन वह संकल्परहित होगी। हम खाना खायेंगे, तो हमें आनन्द होगा। पर मुक्त पुरुष पेट में भूख है, इसलिए खाना खायेगा। उससे न तो उसका आनन्द बढ़ेगा और न घटेगा ही। आनन्द तो आत्मा में है। आँख से देखा और छोड़ दिया, कान से सुना और छोड़ दिया--मुक्त पुरुष का यही हाल है, क्योंकि सबके लिए उसकी भगवद्भावना है। इसलिए मुक्त पुरुष देह में रहते हुए भी देह के गुणों से मुक्त ही रहता है।

**( ११.१२ ) यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर् येन किंचिद् यदृच्छया।**
**अर्च्यते वा क्वचित् तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥**

११.११.१६.

मुक्त पुरुष की देह को कोई हिंस्र पशु मारता है—**हिंस्यते** या कोई **अर्च्यते**—उसकी पूजा करता है, तो उसके चित्त की विक्रिया नहीं होती। यानी चित्त विचलित नहीं होता। कोई मारे-पीटे तो परवाह नहीं, यह बात समझ में आती है। लेकिन खाने के लिए शेर सामने खड़ा है, फिर भी चित्त विचलित न हो, यह समझ में आना कठिन है।

यह तब होगा, जब यह प्रतीति होगी कि देह का कोई कर्तव्य नहीं है। मानव जब सब भूतों में अपने को देखता है, ऐसी स्थिति में यह सध सकता है। तब वह मुक्त पुरुष शेर की हिंसक प्रेरणा ही खतम कर देगा। मुक्त पुरुष की आँखें निर्मल होंगी, करुणा से भरी होंगी। आन्द्रोक्लीज और शेर की कहानी प्रसिद्ध ही है। आन्द्रोक्लीज ने शेर पर उपकार किया था, तो शेर ने उसका स्मरण रखा। उपकार का स्मरण कर हिंस्र पशु मृदु बनता है, यह तो ठीक है। लेकिन मुक्त पुरुष इतना करुणावान् होता है कि उसे देखते ही शेर नम्र बनता है। यह समझ

सकते हैं कि शेर भूखा है, सामने आकर खड़ा है, हमें भागने के लिए मौका नहीं है, तो नाम-स्मरण करते हुए हम मर जायँ। यह हो सकता है, लेकिन उस स्थिति में भी चित्त में विकार नहीं। यह तभी होगा, जब देह का कर्तव्य शेष नहीं रहा—ऐसा भान हो। इसलिए चित्त को जितना निर्विकार कर सकते हैं, करें।

( ११.१३ ) न स्तुवीत न निंदेत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः॥
११.११.१५.

कोई भला करे या बुरा, भला बोले या बुरा, तो भी उसकी न स्तुति करनी चाहिए, न निन्दा—न स्तुवीत न निंदेत। सवाल होगा—न स्तुति करता है और न निन्दा, यह अवस्था कैसे आयेगी ? अभी तक जो बताया, उससे यह कठिन दीखता है। किसीकी निन्दा न करें, यह बात तो ठीक, लेकिन कोई भला करता है तो उसे 'धन्यवाद' भी न दें—यह विचित्र-सा दीखता है। लेकिन यह हो सकता है।

कोई भला करे तो उसका अभिनन्दन अवश्य करना चाहिए। पर कोई बुरा करे तो उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। आगे धीरे-धीरे भला और बुरा मानने की अवस्था ही मिट जायगी। अन्ततः यह अवस्था आ सकती है कि हमारा किसीसे भला या किसीसे बुरा होनेवाला नहीं, यह भान होगा। 'धन्यवाद' देना सभ्यता का लक्षण है। आरम्भ में वह चल सकता है, लेकिन आगे उसे भी मिटाना है। भले-बुरे का असर चित्त पर न हो, ऐसी अवस्था लानी है।

( ११.१४ ) न कुर्यान्न वदेत् किंचित् न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥
—११.११.१७.

मुक्त पुरुष के 'कोड आफ काण्डक्ट' यानी आचरण के नियम बता रहे हैं। मुक्त पुरुष के लिए कोई नियम नहीं हो सकता। इसका अर्थ यही है कि वह कुछ भला-बुरा नहीं करेगा, कुछ नहीं सोचेगा। न कुर्यात्—करेगा नहीं। न वदेत्—बोलेगा नहीं। न ध्यायेत्—सोचेगा नहीं। साधु वा असाधु वा—भला या बुरा। खुराक पौष्टिक है, पर हजम होना मुश्किल है।

सवाल आता है कि क्या साधु पुरुष किसीका भला नहीं करेगा ? न भला सोचेगा, न भला बोलेगा ? किसीका बुरा न करें, किसीको बुरा न बोलें, किसीके बारे में बुरा न सोचें, यह बात समझ में आती है। लेकिन इसमें उलटी बात कही गयी है। महापुरुष कोई काम करने की तकलीफ न उठाये, सिफारिश न करे—यह भी समझ में आता है। लेकिन उसका आशीर्वाद भी हमें न मिले, वह हमारे बारे में भला भी न सोचे, यह बात समझ में नहीं आती।

मैं इसका मतलब यह लेता हूँ कि भले-बुरे की यह बात सांसारिक अर्थ में कही गयी है। लोग आशीर्वाद क्यों चाहते हैं ? कोई कहेगा : 'आशीर्वाद दीजिये कि हमें सन्तान हो जाय।' कोई कहता है : 'मैं परीक्षा में पास हो जाऊँ, ऐसा आशीर्वाद दीजिये।' सवाल आता है कि मुक्त पुरुष ऐसी चीजें क्यों सोचेगा ? लेकिन 'दुनिया का आध्यात्मिक कल्याण हो, सबका कल्याण हो' ऐसा वह अवश्य सोचेगा। जिसे हम व्यावहारिक भलाई कहते हैं, उसे वह नहीं सोचेगा। वह आध्यात्मिक दृष्टि से सबकी भलाई का चिन्तन करेगा और मौका आयेगा, तो मदद भी करेगा।

**आत्मारामः**—यानी आत्मा में रमनेवाला, आत्माराम। **मुनिः जडवत् अनया वृत्त्या विचरेत्**—ऐसा आत्माराम मननशील मुनि जड़ की तरह विचरण करे। वह अपने ज्ञान का कभी प्रदर्शन नहीं करेगा। राजेन्द्र बाबू की मिसाल हमारे सामने है। कोई पहचान नहीं पाता था कि वे पढ़े-लिखे हैं। बिहार के एक किसान और उनमें कोई फरक नहीं था। उनमें मान का प्रदर्शन नहीं था। यह मिसाल तो मैंने सहज दे दी। मतलब यह है कि वे इतनी सादगी से अपना जीवन जीते थे।

यह उत्तम साधु पुरुष का लक्षण है। जड़भरत इसकी मिसाल है। वे एक प्राचीन महाज्ञानी हो गये हैं। कहीं जा रहे थे। उसी रास्ते से राजा की पालकी जा रही थी। पालकी ढोने के लिए एक मनुष्य कम पड़ रहा था। राजा ने उनसे कहा : 'जरा पालकी उठा दो।' जड़भरत ने तुरन्त पालकी उठा ली।

उन्हें पालकी उठाने की आदत तो थी नहीं। इसलिए बीच-बीच में पालकी डगमगाती थी और राजा उन्हें धमकाता। ऐसा चलता रहा। कुछ देर तक जड़भरत ने राजा का धमकाना सुन भी लिया। लेकिन

आखिर शान्ति से कहा : 'महाराज, आपसे इतने अविनय की अपेक्षा नहीं की गयी थी।' राजा ने पहचान लिया कि इस तरह बोलनेवाला और शान्ति रखनेवाला कोई ज्ञानी होना चाहिए। उसने तत्काल उतर-कर जड़भरत के चरण छुए और क्षमा माँगी। फिर जड़भरत ने राजा को उपदेश दिया—ऐसी वह कहानी है।

एक नागरिक के नाते जड़भरत ने सोचा कि 'मैं राजा की प्रजा हूँ और राजा या स्वामी की आज्ञा का पालन मुझे करना चाहिए' और उसने पालकी कंधे पर उठा ली। लेकिन राजा के अविनीत वचन सुनकर आखिर में उसे कुछ कहना पड़ा। उसने सोचा कि 'अब यदि राजा का बोलना सहता रहूँगा, तो इसमें जो दुर्गुण हैं, वे मिटेंगे नहीं।' यानी राजा पर उसे दया आयी।

यहाँ कहा है—**विचरेत् जडवत् मुनिः**। यह समझने की बात है। इसका नाटक नहीं हो सकता। जो ज्ञानी है, उसीको यह सधेगा। उसके ज्ञान का प्रभाव पड़ेगा। यानी उसकी मुक्ति की झलक लोगों को दीखेगी। इसके लिए उसे कुछ करना नहीं पड़ेगा, फिर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। बिना बोले और बिना कुछ किये ही उसका प्रभाव पड़ेगा।

प्रथम, दुनिया जिसे भला समझती है, उस बारे में वह नहीं सोचेगा—यह स्थूल अर्थ हमने देखा। फिर, साधारण अर्थ देखा कि आध्यात्मिक दृष्टि से सबका भला हो, यह अवश्य सोचेगा। लेकिन यह श्लोक उससे भी गहरा है।

मनु ने भी आदेश दिया है कि **लोके जडवद् आचरेत्**। मुक्त पुरुष कितना भी जडवत् आचरण करे, उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ेगा। लेकिन एक विचार मेरे मन में पहले से है और आज भी है कि 'दुनिया में जो महापुरुष प्रसिद्ध हुए और जिनके नाम हम जानते हैं, उनसे भी बड़े महापुरुष दुनिया में हो चुके, जिनके नाम दुनिया आज जानती नहीं।' मेरा यह पक्का विचार है। ऐसे ज्ञानी पुरुषों का प्रभाव अवश्य पड़ेगा और उसका ग्रहण उसीको होगा, जो उसके लिए अनुकूल बनेगा। दुनिया नहीं पहचानेगी कि अमुक का प्रभाव हम पर पड़ रहा है। हम जिन महापुरुषों के नाम जानते हैं, वे तो उनकी तुलना में बहुत छोटे हैं।

यहाँ हम एक मिसाल ले सकते हैं। शंकराचार्य के गुरु गोविन्द

भगवत्पाद थे, उन्हें दुनिया जानती ही नहीं। **भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्** स्तोत्र सब जानते हैं। लोग समझते हैं कि 'गोविन्द' भगवान् का नाम है। लेकिन शंकराचार्य ने अपने गुरु का निर्देश उस स्तोत्र में खूबी से किया है। जो पूर्णपुरुष होगा, उसकी अभिव्यक्ति, उसका प्रकाश सूक्ष्मरूप में होगा। वह क्रिया का उपयोग, वाणी का उपयोग कम करेगा। शंकराचार्य बहुत बड़े लेखक थे। वाक्पटु थे। उनकी प्रतिभा का प्रभाव पड़ा। ज्ञानदेव महाराज में कवित्वशक्ति थी, योगशक्ति थी। ऐसी शक्ति जिनमें थी, वे लोग लोगों को ज्ञात हैं। लेकिन जिन्हें शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ी, उन्हें दुनिया नहीं जानती। **जडवत् मुनि** का यही अर्थ है।

मैंने जड़भरत की मिसाल दी। आखिर उसे भी राजा से कुछ कहना पड़ा, क्योंकि वहाँ करुणा प्रधान हुई। करुणा की उछाल भी आत्मा के खयाल से गौण ही है। 'गीता-प्रवचन' में मैंने यह विचार अच्छी तरह समझाया है। जहाँ पूर्ण अकर्म-शक्ति प्रकट होती है, वहाँ क्रिया नहीं होती, लेकिन कर्म होता है। वहाँ कामना का प्रश्न नहीं, सहजभाव से कर्म होगा। कुछ करना है, इसकी आसक्ति नहीं। करुणा, प्रेम, सत्य सहज हो हो जाता है। इस प्रकार की करुणा परमेश्वर के निकट पहुँच जाती है।

हमें यही समझना चाहिए कि भागवत में जो लिखा है, वह हमारे चिन्तन के लिए लिखा है, उसे ध्यान में रखकर हमें अपनी मानसिक उछल-कूद कम करनी चाहिए। चित्त अधिकाधिक शुद्ध करना चाहिए।

इन दिनों 'एक्टिविटी' ( क्रिया ) पर अधिक जोर दिया जाता है। कहते हैं : 'हमें आन्दोलन करना है।' लेकिन मैंने 'आन्दोलन' के बदले 'आरोहण' कहा। युधिष्ठिर की कहानी है। आखिरी उम्र में वे भाई और पत्नी के साथ स्वर्गारोहण के लिए निकले। उनमें से एक-एक गिरता गया। फिर भी वे अकेले आगे बढ़ते गये। इसे 'आरोहण' कहा गया है। 'एक्टिविटी' में शक्ति है। लेकिन जितनी चित्त-शुद्धि होगी, उतना ही क्रिया के बिना परिणाम अधिक होगा।

जडवत् बनने का दूसरा भी अर्थ लिया जाता है, जिसके लिए मैं आपको सचेत करना चाहता हूँ। मानते हैं कि जडवत् बनना यानी जो सहज होगा, वही करना। परिणामस्वरूप लोग तमोगुण में पड़ेंगे। जान-

बूझकर क्रिया कम करने की आवश्यकता नहीं। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होगी, वैसे-वैसे बाह्य-क्रिया कम होती ही जायगी। वह कम करनी नहीं पड़ेगी। तब हम **लोके जडवत् आचरेत्**—मनु के इस वाक्य के निकट पहुँच जायँगे।

हमने अनुभव किया है कि भगवान् की प्रवृत्ति की तीव्र प्रेरणा उसकी निवृत्ति में होती है। इसलिए हम मूर्ति खड़ी करते हैं, उपासना करते हैं। मूर्ति न बोलती है, न कुछ करती है। लेकिन उससे भक्त को प्रेरणा मिलती है। यह क्रिया परमेश्वर के निकट पहुँचाती है।

इससे यह भ्रम न हो कि हम तमोगुण के निकट जा रहे हैं। तमोगुण और इस अवस्था में बहुत अन्तर है। तमोगुण और समाधि में भी बहुत अन्तर है और समाधि तथा इस अवस्था में भी अन्तर है। शास्त्रकारों ने कहा है : **समाधिः लयः**। समाधि यानी लयावस्था। लयावस्था में जाना लाभदायी बात नहीं। फिर भी कुछ साधक उसके पीछे पड़ते हैं। किन्तु उसमें उन्हें कृतार्थता का भास होना लाभदायी नहीं। साधक को सदैव यह अनुभव होना चाहिए कि हमारे और हमारे ध्येय के बीच अन्तर बढ़ ही रहा है। खयाल होना चाहिए कि जैसे-जैसे हम अपने आदर्श के निकट जाते हैं, वैसे-वैसे हमारा आदर्श आगे बढ़ रहा है।

गांधीजी स्थितप्रज्ञ के लक्षण को सदैव सामने रखते थे। वह उनका आदर्श था। लोग मानते थे कि गांधीजी वहाँ तक पहुँच गये। लेकिन गांधीजी बार-बार कहते कि 'मैं बहुत दूर हूँ।' जो कहता है कि मैं नजदीक हूँ, वह तो दूर होता ही है, इसमें कोई शक नहीं। मैं हमेशा एक मिसाल दिया करता हूँ। दो भाई बिस्तर पर लेटे थे। एक से पूछा कि नींद आयी, तो उसने कहा : 'नहीं।' दूसरे से पूछा तो उसने कहा : 'हाँ।' मतलब यह कि दोनों को नींद नहीं आयी। उसे केवल भास हुआ कि नींद आयी। ऐसे ही जो समझता है कि मैं 'मैं कृतार्थ हूँ', उसे कृतार्थता का भास होता है। वास्तव में उससे वह बहुत दूर है।

अभी तक हमने मुक्त पुरुष के लक्षण पढ़े। आगे श्लोक १५ से २२ में भक्त-लक्षण हैं। इसलिए हम उन्हें छोड़ देते हैं। भगवान् ने उद्धव और अर्जुन को उपदेश दिया है। दोनों उनके साथी थे। अर्जुन भगवान् के

सार्वजनिक काम का प्रतिनिधि था। उसे भी भगवान् ने उपदेश दिया। लेकिन उद्धव को भगवान् ने जो उपदेश दिया, वह अन्तिम उपदेश है। भागवत में कहा गया बहुत सारा उपदेश गीता में भी है, लेकिन कुछ गीता की पूर्ति भी है। भागवत का जो चुनाव मैंने किया, उसमें यही दृष्टि रखी थी। जो हिस्सा गीता की पूर्ति में है, वही अधिक-से-अधिक इसमें लिया गया है।

## ५. वर्णाश्रम-सार

इस अध्याय में वर्णाश्रम का सार वर्णन किया गया है। प्रायः माना जाता है और वह ठीक भी है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था हिन्दू-धर्म की एक विशेष कल्पना है। हमारे यहाँ जो जातियाँ निर्माण हुई हैं, उनके साथ वर्ण का कोई सम्बन्ध नहीं। वर्ण गुणानुसार हैं, तो जाति कर्मानुसार। ये जातियाँ बाद में पैदा हुईं, जो वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध हैं। वर्ण-व्यवस्था में जातिभेद की गुंजाइश नहीं, ऊँच-नीच की भावना नहीं। केवल गुणानुसार कर्मों का बँटवारा मात्र है। वेदों का मत है :

**स्वे स्वे अधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।**

'अपने-अपने कर्तव्य के बारे में निष्ठा रखना ही गुण है और उसका न होना ही दोष है।' इसलिए समाज के उपयोगी जो कर्म है, उनमें कोई ऊँच-नीच नहीं है। ट्रेन का इंजन चलानेवाला जितने महत्त्व का काम करता है, उतने ही महत्त्व का काम ट्रेन को हरी या लाल झंडी दिखानेवाला भी करता है। यदि वह गलती करे, तो ट्रेन के लिए खतरा है। इसलिए उसका महत्त्व कम नहीं है। इंजन चलानेवाले ड्राइवर का ज्ञान अधिक है, इसलिए उसका अधिकार बड़ा है। झंडी दिखानेवाले के पास अधिक ज्ञान नहीं, अधिक शक्ति नहीं, इसलिए उसका अधिकार छोटा है। लेकिन छोटा अधिकार होने पर भी उसका महत्त्व कम नहीं। यदि वह अपने छोटे अधिकार का पूरी निष्ठा से पालन करता है, तो परमात्मा के दरबार में उसकी योग्यता कम नहीं है। यही वेद-रहस्य है। तो, वर्णों

का विभाजन उनके गुणानुसार किया गया है। उसमें ऊँच-नीच भावना नहीं है।

लेकिन भागवत ने एक और बात बतायी, जो 'मनुस्मृति' में भी है:

**( १७.१ ) अहिंसा सत्यमस्तेयं अकामक्रोधलोभता।**
**भूतप्रिय-हितेहा च धर्मोऽयं सार्व-वर्णिकः॥**

—११.१७.२१.

कुछ काम भिन्न-भिन्न वर्णों में बाँट दिये हैं। ब्राह्मण के लिए यह काम, क्षत्रिय के लिए यह काम, वैश्य के लिए यह काम, शूद्र के लिए यह काम—इस तरह काम बाँटे गये। लेकिन कुछ काम ऐसे बताये, जो सबको करने चाहिए। उन्हें भागवत ने नाम दिया है 'सार्व-वर्णिक धर्म'। सार्व-वर्णिक का अर्थ है जो सब वर्णों को लागू हो। कुछ कर्तव्य ऐसे हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबको लागू होते हैं।

यह सार्व-वर्णिक धर्म कौन-सा है? **अहिंसा सत्यम् अस्तेयम्**—हिंसा न करना अहिंसा, चोरी न करना अस्तेय और सत्य यानी सचाई। यह सब वर्णों की जिम्मेवारी है। समाज में जितने भी वर्ण हैं—चारों वर्ण, उन सबकी जिम्मेवारी है कि वे अहिसा का पालन करें सत्य का पालन करें और अस्तेय का पालन करें।

इन तीनों के अलावा और भी सार्व-वर्णिक कर्तव्य बताये गये हैं: **अकाम-क्रोध-लोभता**—काम-क्रोध और लोभ न रखना। गीता कहती है कि ये तीन नरक के द्वार हैं:

**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं····कामः क्रोधः तथा लोभः।**

काम-क्रोध लोभ, ये नरक के तीन दरवाजे हैं। गीता ने उनका निषेध किया है। भागवत कहती है कि काम-क्रोध-लोभ से मुक्ति पाना चारों वर्णों का कर्तव्य है, सब मनुष्यों का कर्तव्य है।

इससे भी बड़ी बात और बता रहे हैं: **भूतप्रिय-हितेहा**—सब प्राणियों का प्रिय करना, सब प्राणियों के हित की बात करना, सेवा करना। आधुनिक भाषा में कहना हो तो 'सर्वोदय' का काम करना। इसकी जिम्मेवारी चारों वर्णों पर है—**धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः**। आजकल जिसे हम 'समाज-सेवा' कहते हैं, वह सब इसमें आ जाती है। इसमें व्यापक दृष्टि

है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय—ये तीन व्यक्ति और समाज के लिए बुनियादी चीजें हैं। अकाम-क्रोध-लोभता चित्त-शुद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। काम-क्रोध-लोभ से मुक्ति पाये बिना चित्त-शुद्धि नहीं और चित्त-शुद्धि के बिना समाज-सेवा भी संभव नहीं।

मुख्य बात यह है कि हम सबको समाज की सेवा करनी है। यानी उस-उस वर्ण के जो काम हैं, उनके अलावा सब भूतों का प्रिय करना और सब भूतों के हित की इच्छा करना भी सर्वसाधारण का धर्म है। मान लीजिये, यहाँ जोरदार आग लग गयी। आग बुझाना यहाँ की नगरपालिका का विशेष कर्तव्य है। लेकिन नागरिकों का भी कर्तव्य है कि वे आग बुझाने की कोशिश करें। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी नागरिक उसके लिए कोशिश करें। मतलब यह कि यद्यपि वर्णों के काम बँटे हुए हैं, फिर भी सर्वोदय और लोगों की सेवा के ऐसे असंख्य काम रह जाते हैं, जिनके करने की जिम्मेवारी हरएक वर्ण पर है।

नगर में कहीं दंगा हो रहा है, तो पुलिस या सेना का कर्तव्य है कि उसे काबू में रखे। इन लोगों को हम 'क्षत्रिय' नाम दे सकते हैं। दंगा बुझाने का काम उनका है, यह मानी हुई बात है। लेकिन उस समय हमारा भी कुछ कर्तव्य होता है। हमारा कर्तव्य है कि तत्काल वहाँ चले जायँ और लोगों को समझाने का प्रयत्न करें। शान्ति-सेना का पीला साफा बाँधने की भी आवश्यकता नहीं। पीला साफा पहनना तो एक व्रत है कि हम ऐसे दंगों में अपना बलिदान भी देंगे। लेकिन सामान्य नागरिक का कर्तव्य है कि वह दंगा मिटाने की कोशिश करे।

यह समाज-सेवा की, मानवता की दृष्टि है। माना जाता है कि प्राचीनों ने आध्यात्मिक साधना के लिए सत्य, अहिंसादि व्रत कहे और महात्मा गांधी ने उन्हें समाज-सेवा के लिए लागू किया। यह सत्य है—आधुनिक जमाने में कुछ हद तक यह सत्य है, लेकिन पूर्ण सत्य नहीं। भागवत में यह बात कही गयी है। महात्मा गांधी ने हमारे सामने बिलकुल नयी चीज रखी, सो नहीं। फिर भी हम उसे भूल रहे थे। ऐसे भूले-भटके लोगों के सामने उन्होंने वही चीज फिर से ला रखी। इसीलिए हमें लगा कि वह नयी चीज है। गांधीजी ने कभी दावा नहीं किया कि मैं नयी चीज लोगों के सामने रख रहा हूँ। उल्टा वे कहते कि 'हमारे

ऋषि-मुनियों ने जो बात कही थी, उसके अमल में अपनी ताकत लगा रहा हूँ और वही चीज लोगों के सामने रख रहा हूँ।'

चारों वर्णों के समान धर्म बताये। अब चारों आश्रमों के समान धर्म बता रहे हैं। एक आश्रम है ब्रह्मचर्य। 'ब्रह्मचर्य' यानी विद्यार्थी का आश्रम, विद्याध्ययन करना। आजकल विद्यार्थी दंगे आदि में अधिक रुचि लेते हैं। राजनैतिक पार्टीवाले उनका सहारा लेते और दंगे आदि में विद्यार्थियों का मुख्य हाथ हो जाता है। न माता-पिता उनको रोकते हैं, न गुरुजी और न राज्य ही उन्हें रोक पाता है। आज ऐसी हालत सारी दुनिया में है, केवल अपने देश में नहीं। लेकिन यह विद्यार्थियों का कर्तव्य नहीं। विद्यार्थियों का कर्तव्य है—ब्रह्मचर्य का पालन, गुरु की सेवा, वेदाध्ययन, धर्मग्रंथों का अध्ययन, विज्ञान का अध्ययन।

फिर गृहस्थधर्म है, जिसे हम 'नागरिक का धर्म' कहते हैं। सारा कर्तव्य गृहस्थों को करना है। उत्पादन बढ़ाना गृहस्थों का काम है। फिर वानप्रस्थाश्रम है। वानप्रस्थाश्रम में सारे समाज को मार्गदर्शन देना, तालीम का इंतजाम करना, यह कर्तव्य है। वानप्रस्थाश्रम के बाद है—संन्यासाश्रम। संन्यासी तो आत्मज्ञानी है। संन्यासी समाज को आत्मज्ञान दे, भक्ति का मार्ग बताये। यह सारा काम संन्यासियों का है। लेकिन इन चारों आश्रमों के लिए कोई एक समान तत्त्व है या नहीं? भागवतकार बता रहे हैं:

**( १७.२ ) सर्वाश्रम-प्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनंदन।**
**मद्भावः सर्वभूतेषु मनो-वाक्-काय-संयमः॥**

—११.१७.३५.

हे उद्धव! ( उद्धव को नाम दिया 'कुलनंदन' ) सब आश्रमों के लिए एक और समान धर्म है। भागवत का अपना एक पागलपन है, उसे दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। वह कौन-सा? कहती है: **मद्भावः सर्वभूतेषु**—सर्वभूतों में भगवान् की भावना रखना। लोग भले ही कहें कि यह बहुत कठिन बात है, लेकिन भागवत को दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। वह कहती है कि सब भक्तों में भगवान् की भावना रखें। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, संन्यासी हो, वानप्रस्थ हो, गृहस्थ हो या बूढ़ा हो, सबका यह कर्तव्य है।

एक बात और कहती है : **मनो-वाक्-काय-संयमः**—मन, वाणी और काया का संयम। यह भी सब आश्रमों को लागू है। इस पर से समझ में आयेगा कि वर्णाश्रम-धर्मों की जो व्यवस्था बतायी, चारों वर्णों और चारों आश्रमों का जो समान धर्म बताया है, वह यदि अमल में आ जाय तो समाज कितना सुखी होगा !

मैंने कहा कि **मद्भावः सर्वभूतेषु** यह भागवत का पागलपन है, लेकिन भारत के लिए वह अपनी प्रिय वस्तु है। भारत में इस वस्तु के लिए हरएक के हृदय में प्रेम है। चाहे हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, जैन हो, सबको अंदर से आध्यात्मिक तृष्णा रहती है। यह भारत की अपनी विशेषता है। भारत की हवा में ही यह चीज है। यह अलग बात है कि हम गलत काम करते हैं, लेकिन बाद में पछताते हैं; क्योंकि हवा में वह चीज फैली हुई है। सब भूतों में भगवद्-भावना रखें, यह बात यहाँ बिलकुल बचपन से पढ़ायी जाती है।

बचपन की याद आ रही है। मेरे हाथ में एक लकड़ी थी। मैं उससे मकान के खंभे को पीट रहा था। माँ ने मुझे रोककर कहा : 'उसे क्यों पीट रहे हो ? वह भगवान् की मूर्ति है। क्या जरूरत है उसे तकलीफ देने की ?' मैं रुक गया। यह जो खंभे को भी नाहक तकलीफ न देने की भावना है, वह भारत में सर्वत्र मिलेगी। भागवत का जो पागलपन है, वह भारत का अपना पागलपन है !

यह बिलकुल व्यावहारिक बात है। यदि हम यह चीज नहीं सीखते, तो क्या ब्रह्मचर्य, क्या गार्हस्थ्य और क्या वानप्रस्थ कुछ सध पायेगा ? कोई चीज नहीं सधेगी। इसलिए यह बुनियादी चीज है और सबको इसका पालन करना चाहिए। ●

## ६. ज्ञान-वैराग्य-भक्ति

पहले तीन श्लोकों में उद्धव भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं :

(१९.१) **ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्**
**वैराग्य-विज्ञान-युतं पुराणम् ।**
**आख्याहि विश्वेश्वर ! विश्वमूर्ते !**
**त्वद्भक्ति-योगं च महद्-विमृग्यम् ॥**

—११.१९.८.

**ज्ञानम् आख्याहि**—मुझे ज्ञान बताओ । **यथैतद्**—यह ज्ञान कैसा है ? **विशुद्धं विपुलं ज्ञानम्**—ज्ञान विशुद्ध और विपुल दोनों है । यहाँ विशुद्ध और विपुल का विरोध नहीं । हम सोचते हैं कि ग्रामदान व्यापक चाहेंगे तो उसमें अशुद्धियाँ आयेंगी । हजारों ग्रामदान हों और अच्छे भी हों, क्या यह संभव है ? यानी विपुलता और विशुद्धता में हम भेद करते हैं । लेकिन यहाँ कहा है कि आत्मज्ञान शुद्ध होता है और व्यापक भी । फिर कहा : **वैराग्य-विज्ञान-युतम्**—ज्ञान बताइये वैराग्य-विज्ञानयुक्त । फिर **पुराणम्**—कहा । नया नहीं, पुराना ज्ञान । पुराण यानी कैसा ? मुरब्बे जैसा । मुरब्बा कल बनाया और आज खाया, ऐसा प्रायः नहीं होता । पुराण यानी भीना हुआ । मराठी में इसे 'मुरणें' कहते हैं । यानी अनुभव की कसौटी पर कसा हुआ ज्ञान । कोई नयी बात निकली तो वह ठीक है या बे-ठीक, कह नहीं सकते । इसलिए कहा : **पुराणं ज्ञानम्**—अनुभव की कसौटी पर कसा हुआ ज्ञान ।

**विश्वेश्वर ! विश्वमूर्ते !** ये दो सम्बोधन हैं । हे विश्वचालक और हे विश्वरूपमूर्ति ! 'विश्वचालक' कहने पर भगवान् विश्व के ऊपर हो जाते हैं, पर 'विश्वमूर्ति' कहने से विश्वमय हो गये । भगवान् विश्व में ओतप्रोत हैं । भगवान् अपने चालक बनते हैं, यानी चलानेवाले वे हैं और चलनेवाले भी वे ही हैं ।

और कौन-सी आवश्यक बात सिखाने के लिए उद्धव ने भगवान् से कहा : **त्वद्भक्ति-योगम्**—अपना भक्तियोग सिखाओ। वह भक्तियोग कैसा है? **महद्-विमृग्यम्**—महान् पुरुषों द्वारा शोधनीय। विमृग्य यानी शोधनीय। भक्तियोग का शोधन अभी तक पूरा नहीं हुआ है। आज भी महापुरुष उसका शोधन करते ही जा रहे हैं, खोज जारी ही है।

यहाँ भक्तियोग का विशेषण 'महद्-विमृग्यम्' है और ज्ञान के विशेषण 'विशुद्धं, विपुलं, वैराग्य-विज्ञान-युतम्' और 'पुराणम्'। इसमें एक बात कही है कि भक्तियोग आखिरी यानी नवीनतम चाहिए। परमात्मा की प्राप्ति के लिए सबसे अच्छी उपासना कौन-सी? आज जो चल सकती है, वही उपासना अच्छी है। पुरानी उपासना काम की नहीं। आज अलग-अलग देवताओं की उपासना चलती है, शालग्राम की उपासना चलती है, शिव की उपासना चलती है या परिश्रम-खेती की उपासना चलती है—पर जो आज के लिए अनुकूल उपासना होगी, वही उपासना अच्छी मानी जायगी। लेकिन ज्ञान तो पुराना ही चाहिए, वह नया नहीं चलेगा। आज का आज, ताजा ज्ञान नहीं चलेगा।

अब उद्धव अपना वर्णन कर रहे हैं :

**(१९.२) ताप-त्रयेणाभिहतस्य घोरे**
**संतप्यमानस्य भवाध्वनीश !**
**पश्यामि नान्यच्छरणं तवांघ्रि-**
**द्वंद्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥**

—११.१९.९

हम **ताप-त्रयेणाभिहत**—तीनों तापों से संतप्त हैं। **भवाध्वनि**—अध्वा यानी मार्ग, संसाररूपी मार्ग में थके हुए हैं। संसार-मार्ग कैसा है? **घोर** है। तुलसीदासजी ने भी कहा है : **संसार-कांतार अति घोर गंभीर।** कान्तार यानी जंगल। घोर यानी घना। संसार अत्यन्त घना जंगल है। उसमें शेर रहते होंगे, और दूसरे हिंसक पशु भी होंगे। तुलसीदासजी तो कवि हैं। उन्होंने संसार का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। जमशेदपुर जैसे शहर में रहनेवाले लोग कबूल नहीं करेंगे कि संसार-मार्ग घोर है। यहाँ तो सुन्दर रास्ते हैं, अच्छे मकान हैं, बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिलती हैं, तो कौन कहेगा कि संसार घोर है? लेकिन तुलसीदासजी कहते हैं कि

संसार घोर और गम्भीर है। हम तीनों तापों से तपे हुए हैं, संतप्त हैं। हमें आपके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं दीखता। आपका चरण-युगल-रूपी छाता ही हमारा आधार है। तभी हम उस धूप से बच पायेंगे। 'आतप' यानी धूप और 'आतपत्र' यानी छाता। वह भी सामान्य छाता नहीं। ऐसा सुन्दर कि उसमें से अमृत की बूंदें टपक रही हैं। अद्भुत छाता है! धूप से बचाता है और अमृत की वर्षा भी करता है! **नान्यत् शरणम्**—आपके सिवा और कोई आधार नहीं।

(१९.३) **दष्टं जनं संपतितं बिलेऽस्मिन्**
**कालाहिना क्षुद्र-सुखोरु-तर्षम्।**
**समुद्धरैनं कृपयाऽऽपवर्ग्यैर्**
**वचोभिरासिंच महानुभाव॥**
—११.१९.१०.

आगे उद्धव कहते हैं कि कालरूपी सर्प ने मुझे काटा है—**दष्टम्**। जिस बिल में साँप है, उसी बिल में आपका भक्त रहता है। अपना वर्णन कर रहे हैं कि इस संसाररूपी बिल में पड़ा हुआ और साँप से काटा हुआ मैं हूँ। मुझे क्षुद्र सुख यानी विषय-सुख की बड़ी प्यास लगी है। यह एक रूपक है। कहा जाता है कि जिस मनुष्य को साँप काटता है, उसे बहुत प्यास लगती है। वही मिसाल यहाँ दी गयी है। **उरु-तर्षा** यानी बहुत प्यास। इसलिए हे भगवान्! **समुद्धर**—मेरा आप उद्धार करो। हे मन्त्र जाननेवाले, मन्त्रज्ञ महानुभाव! अपने **अपवर्ग्यैः वचोभिः**—मुक्तिदायी वचनों से मुझ पर सिंचन करो। 'अपवर्ग' यानी मुक्ति। हे महानुभाव! मुझे बचाओ। साँप के काटे हुए मनुष्य को मान्त्रिक मन्त्र से ठीक करते हैं और उस समय उस पर जल छिड़कते हैं। वही मिसाल यहाँ दी गयी है और भगवान् से कहा है कि आप अपने मुक्तिदायी वचनों से मुझ पर सिंचन करें।

इन तीन श्लोकों में अपने को बचाने के लिए भगवान् से प्रार्थना की गयी है और वैराग्य-ज्ञान-भक्ति की माँग भी की है। आगे के श्लोकों में भगवान् उद्धव के प्रश्नों के उत्तर देंगे।

(१९.४) **नवैकादश पंच त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।**
**ईक्षेताथैकमप्येषु तत् ज्ञानं मम निश्चितम्॥**
—११.१९.१४.

भगवान् ज्ञान-वैराग्य समझा रहे हैं : **येन ज्ञानेन ईक्षेत**—जिस ज्ञान से हम देख सकेंगे। क्या देख सकेंगे ? **नवैकादश पंच त्रीन् भावान् भूतेषु**—नौ अधिक ग्यारह, अधिक पाँच, अधिक तीन, यानी २८ मूलतत्त्व सब भूतों में भरे हुए हैं। 'भाव' यानी मूलतत्त्व। और **ईक्षेत अथ एकमपि एषु**—इन २८ मूलतत्त्वों में एक तत्त्व देखो। सारांश, अनन्त भूतों में २८ भाव हैं, यह ज्ञान जिससे होता है, उस ज्ञान को प्रथम जान लें। फिर उन २८ भावों में एक तत्त्व जान लें। **तत् ज्ञानं मम निश्चितम्**—इसीको मैं ज्ञान मानता हूँ।

यह एक प्रक्रिया है। पहले अनन्त भावों को उबाल-उबालकर यानी ओटकर २८ भाव निकाले। फिर २८ भावों को ओटकर उसका एक तत्त्व बनाया। ये २८ भाव कौन-से हैं ? सांख्यशास्त्रकारों ने २५ पदार्थ माने हैं।[1] उनमें तीन गुण जोड़ दिये तो २८ हो जाते हैं। सांख्यों ने तीन गुणों को प्रकृति में माना है, यहाँ उन्हें अलग गिना गया है।

यह विषय मुझे शुष्क लगता है। मैंने पञ्चीकरण-प्रक्रिया भी पढ़ी है।[2]

---

१. प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार, और पञ्च तन्मात्राएँ ( ९ ), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियां और मन ( ११ ), पृथिवी आदि पञ्च भूत ( ५ ) तथा सत्त्व, रज, तम ये ( ३ ) गुण : ९ + ११ + ५ + ३ = २८।

२. 'पञ्चीकरण' वेदान्तशास्त्र की प्रसिद्ध सृष्टि-प्रक्रिया है। हमें दीखनेवाले पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच स्थूल महाभूत कैसे बने, इसका स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्र में बताया गया है कि मूलतः इनके पाँच बीजरूप होते हैं, जिन्हें 'पंचतन्मात्राएँ' या 'सूक्ष्म भूत' कहा जाता है। ये तन्मात्राएँ हैं : १. शब्द-तन्मात्रा, २. स्पर्श-तन्मात्रा, ३. रूप-तन्मात्रा, ४. रस-तन्मात्रा और ५. गन्ध-तन्मात्रा। इन्हींसे स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।

स्थूल भूत बनते समय पाँचों में एक दूसरे के गुण या तत्त्व आ मिलते हैं। किस तरह ? तो देखिये : पहले, पाँच सूक्ष्म भूतों ( तन्मात्राओं ) को दो हिस्सों में बाँट दें। फिर पहले पाँच हिस्सों के पुनः चार-चार हिस्से बना लें। बाद अपना हिस्सा छोड़ शेष चार भूतों के ४ चौथाई हिस्सों को जोड़ स्थूलभूत का $\frac{1}{2}$ भाग कर लें और उसमें अपने-अपने हिस्से का शेष आधा भाग जोड़ते जायँ, तो पाँचों स्थूल महाभूत बन जाते हैं। इस पंचीकरण के कारण ही एक भूत में दूसरे भूत के गुण पाये जाने की उपपत्ति बैठ जाती है।—सं०

वह नीरस लगी। उसका आत्मज्ञान से कोई ताल्लुक नहीं। सृष्टि कैसे बनी, यह विज्ञान का विषय है। विज्ञान ने इस विषय में काफी खोज की है। लेकिन जिन्होंने खोज की, उन्हें आत्मज्ञान तो नहीं हुआ था। रामदास स्वामी ने कहा है :

**प्रपंची पाहिजे सुवर्ण। परमार्थी पंचीकरण॥**

अर्थात् प्रपंच में सुवर्ण चाहिए, पैसा चाहिए और परमार्थ में पञ्चीकरण विद्या चाहिए। पाँच महाभूत, पाँच विषय, चित्त के तत्त्व आदि का शास्त्र इस पञ्चीकरण-विद्या में आता है। मैंने अपने लिए इसमें यह परिवर्तन कर लिया है :

**प्रपंची पाहिजे अन्न। परमार्थी आत्मज्ञान॥**

उपनिषद् में भी 'अनाज बढ़ाओ' कहा है : **अन्नं बहु कुर्वीत।**

लेकिन भगवान् ने भागवत के इस श्लोक में बड़ी कुशलतापूर्वक साधकों को निर्देश देते हुए कहा है कि 'अनन्त का २८ करो और २८ का १' रिड्यूस टु वन—एक तक आओ। अनन्त भेदों से २८ भेदों तक आये, तो काम कुछ आसान बना। फिर भी ये २८ बाकी रहने पर झमेला नहीं मिटेगा, क्योंकि 'वन वर्ल्ड' (एक जगत्) बनाना है। इसलिए भगवान् ने ज्ञानमार्ग निकाला और कहा कि '२८ का १ बनाओ।' जिस ज्ञान से उन २८ में 'एक' दीखे, **तत् ज्ञानं मम निश्चितम्**—उसे मैं निश्चित ज्ञान मानता हूँ। दूध की रबड़ी बनायी, फिर रबड़ी का मावा! मतलब मावा बनाने से है।

फिर विज्ञान क्या है? भगवान् कहते हैं :

(१९.५) **अेतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्।**
**स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥**

—११.१९.१५.

**एकेन येन न तथा**—एक ज्ञान ऐसा हो, जिससे सृष्टि के त्रिगुणात्मक भावों को हम देख सकें और यह भी देखें कि सारा मामला मिथ्या है। **न तथा**—वास्तविक नहीं है। यह जानना ही विज्ञान होता है। ज्ञान होता है, लेकिन उसमें तथ्य नहीं, यह मालूम होना ही विशेष ज्ञान या

विज्ञान है अर्थात् अनुभव-ज्ञान। साइन्स को भी 'विज्ञान' कहते हैं। उसका अर्थ है, विविध ज्ञान।

**स्थिति-उत्पत्ति-अप्ययान्**—सचमुच यह जन्मा और मरा, बीच में कुछ काम भी किया—यह जानते हुए भी 'यह सही नहीं है' ऐसा जानना विज्ञान है। इसी ज्ञान को, इसी समझ को 'विज्ञान' कहते हैं। यह है आत्म-साक्षात्कार!

बड़ों-बड़ों के चरित्र होते हैं—'इसने यह काम किया, उसने वह।' लेकिन एक दिन पृथ्वी कम्पायमान हुई, तो सब खतम! तब वह क्या काम आयेगा? इतिहास, भूगोल या ग्रामदान-कार्य भी इसी तरह का है। यह कोई काल्पनिक चीज नहीं, होनेवाली, वास्तविक है।

ऐसी अनेक पृथ्वियाँ सृष्टि में हैं, करोड़ों की तायदाद में हैं। नये-नये ग्रह-तारे बन रहे हैं, तो कुछ खतम हो रहे हैं। उनमें कौन बड़ा और कौन छोटा? इसलिए समझना चाहिए कि परमात्मा की लीला चल रही है। इसमें जो काम हमें मिला है, उसे हम करते हैं। पर उसकी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

जयपुर में मैंने एक प्रदर्शनी देखी थी। उसमें गोबर के बहुत सुन्दर केले बनाये थे। वहाँ मतलब केला खाने से नहीं, उसे देखने से था। गोबर का केला कौन खायेगा? वैसे ही हम जो काम करते हैं, उसमें खाने से मतलब नहीं—यह ज्ञान हो जाय तो वह आत्मानुभव है, जिसे 'विज्ञान' कहा है। स्थिति, उत्पत्ति और अप्यय यानी लय—ये त्रिगुणात्मक भाव बदलते रहें, लेकिन इनमें तथ्य नहीं है। **न तथारूपेण पश्येत् एकेन ज्ञानेन**—एक ही ज्ञान होता है, तो 'न तथा' दृष्टि से हम देखते हैं। मृगजल का समुद्र लहरें मार रहा है। लेकिन हम जानते हैं कि यह मृगजल ही है, वास्तव में समुद्र नहीं।

यह बात हिन्दुस्तान के बहुतों के कानों तक पहुँच गयी है, फिर भी लोग आसक्ति में पड़े रहते हैं। विदेश के एक भाई मुझसे मिलने आये थे। वे कह रहे थे: 'मेरी समझ में नहीं आता था कि भारत में जो साधु-सन्त हो गये, उन्होंने संसार को मिथ्या क्यों कहा। पर हिन्दुस्तान में आने के बाद यह चीज मेरे ध्यान में आयी। यहाँ के लोग अपने भाई-बहन, माता-पिता आदि परिवार में अत्यन्त आसक्त हैं। सन्तों को उन्हें उनसे छुड़ाना पड़ा। हमारे यहाँ तो माता-पिता का एक लड़का अमेरिका

में, एक इंग्लैंड में, तो एक जापान में, इस तरह चलता है। बारह-बारह साल तक पिता-पुत्र का मिलन नहीं होता।'

उस भाई के इस कहने में तथ्य है। यहाँ तो यह हालत है कि ८० साल की बूढ़ी माँ अपने ५० साल के लड़के की चिन्ता करती है। चाहती है कि मैं अपने बेटे का दर्शन करूँ। ऐसी स्थिति होने के कारण ही सन्तों ने संसार को मिथ्या कहा। यह आसक्ति तोड़ने के लिए सन्तों ने जोर-जोर से कहा। लेकिन इतना कहने पर भी क्या आसक्ति टूटी ? इसलिए हमें समझना चाहिए कि संसार की किसी भी चीज में तथ्य नहीं। यह जानना ही ज्ञान यानी 'विज्ञान' है।

**( १९.६ ) आदौ अंते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्।**
**पुनस् तत्प्रतिसंक्रामे यत् शिष्येत तदेव सत्॥**

—११.१९.१६.

ज्ञान-विज्ञान तो वह है, जिससे सत्य की पहचान हो। बुद्धि से समझना 'ज्ञान' है और हृदय से अनुभव करना 'विज्ञान'। यहाँ भगवान् सत्य की व्याख्या कर रहे हैं। वही सत्य है, जिसमें सृजन ( क्रिएटिव ) शक्ति है। **आदौ सृज्यात्**—शुरू में पैदा करता है। वास्तव में उसकी जो शक्ति है, वह पैदा करती है। लेकिन पैदा करके वह उससे अलग नहीं रहता। उससे अनुगत होता है यानी अंदर दाखिल हो जाता है, प्रविष्ट होता है। सूत कपड़े के अंदर दीख पड़ता है, लेकिन बुनकर नहीं। घड़े में मिट्टी का दर्शन होता है, पर कुम्हार का नहीं। यानी वस्तु में कर्ता का दर्शन नहीं होता। लेकिन जो सत्य है, वह चीज बनाता है और उसमें स्वयं दाखिल होता है और चीज का लय होने पर भी स्वयं कायम रहता है।

अब सत्य की व्याख्या के मूल में जो चीज है, उसकी व्याख्या करें। एक बार यह सवाल मुझसे पूछा गया कि सत्य क्या है ? मैंने कहा : 'सत्य यानी खजूर।' पूछनेवाले ने कहा : 'नहीं।' मैंने कहा : 'सत्य यानी शक्कर।' उसे लगा कि मैं मजाक कर रहा हूँ। तब मैंने उससे कहा : 'यदि आप इसे सही नहीं मानते, तो आप जानते हैं कि क्या कहने पर आप का समाधान होगा। इसका मतलब है कि सत्य क्या है, यह आप जानते हैं।' वास्तव में सत्य ऐसी चीज है, जिसकी व्याख्या करना मुश्किल है। सत्य चीज को पैदा करेगा, उसमें अनुगत यानी प्रविष्ट होगा और चीज

के लय होने पर भी शेष रहेगा। यानी उसकी घुसपैठ होती है, 'अनुप्रविष्ट हुआ' कहते हैं। लेकिन 'अनुगत' शब्द ह अच्छा है।

किसीका पिता मर गया, तो हम समझते हैं कि 'उसका पिता गया'। लेकिन यह सत्य नहीं। ध्यान में आना चाहिए कि मरने पर भी वह है। तभी हमने सत् को पहचाना। सत् अनुगत है, मृत्यु पर भी कायम है, यह ध्यान में रखें।

सत्य को पहचानने के लिए साधन क्या है? इसे 'प्रमाण-परीक्षा' कहते हैं। बहुत से दर्शन इसी में लगे हुए हैं। उसके लिए विवाद भी होते हैं, लेकिन निर्णय नहीं हो पाता; क्योंकि एक ही भाषा सब कोई नहीं जानते। कोई मुझसे पूछता है : 'ईश्वर यानी क्या?' तो मैं कहता हूँ : "आप क्या समझते हैं? यदि उसे जानते हों तो पूछने की आवश्यकता ही नहीं। मैं समझता हूँ ईश्वर यानी आम!" वह समझेगा कि मैं मजाक कर रहा हूँ। लेकिन बात यह है कि जिसे आप ईश्वर मानते हैं, उसीको मैं भी ईश्वर मानूँ, यह हो नहीं सकता। यह ठीक है कि शक्कर कहने से एक समान समझ (कामन अंडरस्टैंडिंग) हो जाती है। वैसे ही मीठा कहने से समान समझ होती है। लेकिन 'आप ईश्वर को जानते हैं या नहीं?' ऐसा कोई पूछेगा तो सवाल आयेगा कि 'आप ईश्वर किसे कहते हैं? उसके लिए प्रमाण चाहिए। यदि प्रमाण नहीं हैं, तो प्रमेय कैसे सिद्ध होगा?' इस तरह वाद-विवाद चलते रहते हैं। ये प्रमाण चार माने गये हैं, जिनका विवरण अगले श्लोक में है।

**(१९.७) श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यं अनुमानं चतुष्टयम्।**
**प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते॥**

—११.१९.१६.

भगवान् कहते हैं : हम चार प्रमाण मानते हैं। (इसमें शुकदेव की विशेष बुद्धि प्रकट हुई है।) किसी चीज के बारे में सोचना हो, तो चारों प्रमाणों को एकमत होना चाहिए। यानी चारों प्रमाण एक ही मत बतायें, तो वह सिद्ध होगा। ये चार प्रमाण हैं—श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य, अनुमान।

श्रुति यानी शब्द। इसका अर्थ 'वेद' भी होता है। हम जेल में थे, तब हमारे एक मित्र 'कुरान' का अभ्यास कर रहे थे। एक दिन वे

मुझसे कहने लगे कि "मुहम्मद पैगंबर ने बहुत बड़ा काम किया, ज्ञान-शून्य अरब लोगों को ज्ञानी बनाया, जंगली लोगों को सभ्य बनाया, जैसा गांधीजी ने किया।" मैंने कहा : "आप जो कह रहे हैं, वह सही नहीं है। कुरान में 'अल्लाह,' 'हक्' आदि शब्द आते हैं। ये शब्द तो मुहम्मद के पहले भी थे। जिनके पास ये शब्द थे, वे अरब लोग जंगली कैसे ? इसलिए मुहम्मद ने जंगली लोगों को ऋषि बनाया, यह बात गलत है। मुहम्मद अनपढ़ पैगंबर थे : 'अनलेटर्ड प्रोफेट'। उस समय जो शब्द मौजूद थे, उन्हींका इस्तेमाल उन्होंने किया। गांधीजी ने भी क्या किया ? कोई नया शब्द नहीं दिया। 'सत्याग्रह' नया शब्द नहीं। सत्य और आग्रह, इन दो शब्दों को उन्होंने मात्र जोड़ दिया। यह अलग बात है कि समाज कमजोर अवस्था में होता है, तो उसे आप बल देते हैं। शब्द तो अनादि है। जितना अनादित्व मनुष्य को नहीं, उतना शब्द को है। मनुष्य का अस्तित्व नहीं था, तब भी शब्द था।"

एक बार मद्रास में राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति में मैंने कहा था कि "आप राष्ट्रभाषा का प्रचार करते हैं। लेकिन असली राष्ट्रभाषा तो कौए बोलते हैं। आप उत्तर में जाइये या दक्षिण में, कौए की एक ही भाषा सुनाई देती है : का-का-का ( काँव्-काँव्-काँव् )। बल्कि दुनियाभर में उसकी यही भाषा सुनाई देगी। फिर इस भाषा में भी खूबी है। भाषा 'का' ही होती है, लेकिन उस 'का' के टोन ( स्वर ) अलग-अलग होते हैं। कहीं खतरा हो तो वहाँ 'का' अलग टोन में बोला जायगा। आनन्द हुआ और दूसरे साथियों को बुलाना हो, तो अलग ढंग से बोला जायगा।"

मनुष्य को वेदना हो रही हो और वह शान्त रहे, तो किसीको उसकी उस वेदना का पता नहीं चलेगा। यदि मनुष्य 'अरेरे' कहेगा, तो आसपास के लोगों को पता चलेगा कि सचमुच इसे तीव्र वेदना हो रही है। 'अरेरे' शब्द कहाँ से आया ? किसने बनाया ? समझना चाहिए कि शब्द अनादि होते हैं। उनका टैम्परिंग ( मनमाना उपयोग ) नहीं होना चाहिए। ठीक अर्थ लेकर शब्दों का उपयोग होता है, तो उससे दुनिया की समझ बढ़ती है।

प्रत्यक्ष यानी जो आँख-कान से देखा-सुना जा सकता है। लेकिन प्रत्यक्ष में भी संशय हो सकता है। इसीलिए चार प्रमाण माने गये हैं। एक में संशय रह गया, तो दूसरे प्रमाण से वह साफ हो सकता है।

**ऐतिह्य** यानी इतिहास अर्थात् अनुभव। यहाँ इतिहास को प्रमाण माना है। इतिहास का अर्थ क्या है? साबरमती-आश्रम में एक बिलकुल अनपढ़ बहन थीं। बापू ने उनसे कहा : 'आप आश्रम की पाठशाला में शिक्षिका बनिये।' वे कहने लगीं : 'मैं क्या सिखाऊँगी?' बापू ने कहा : 'आप बूढ़ी हैं, ये सब बच्चे हैं, तो इन्हें इतिहास सिखाइये।' वे हँसने लगीं और बोलीं : 'मैं इतिहास तो जानती नहीं।' बापू ने कहा : 'बाबर कब जन्मा और कब मरा, इस जानकारी की इन बच्चों को कोई जरूरत नहीं। अपने अनुभव सुनाइये।' अपनी पीढ़ी का इतिहास आज की पीढ़ी को सिखाना ही इतिहास सिखाना है। जो पुश्त-दरपुश्त चला आ रहा है, वही इतिहास है। इतिहास यानी अनुभव-ज्ञान।

**अनुमान** यानी अनुमनन। एक चीज देखी, तो उसका अनुमनन करना चाहिए। ये चार प्रमाण हैं।

नाना प्रकार के विषय-भोग मानव को आकृष्ट करते हैं। वे प्रमाण पर टिकते नहीं। लोग कहते हैं कि हमारा सारा जीवन विषय-भोग के लिए ही चल रहा है। एक बूढ़े भाई कह रहे थे कि 'बचपन में हम दूध पीते थे।' मैंने कहा : 'अब बचपन का दूध कहाँ? अब तो हड्डियाँ दीख रही हैं!' बचपन में पिया दूध बुढ़ापे में नहीं टिकता। **प्रमाणेषु अनवस्थानात्**—प्रमाणों में वह टिकता नहीं। प्रमाणों की कैंची चलने के बाद जो चीज टिकेगी, वही सत्य है। प्रमाणों में भोग की हस्ती टिकती नहीं। इसलिए **सः विकल्पात् विरज्यते**—भक्त इन विकल्पों से विरक्त हो जाता है।

भोग विकल्प हैं, कल्पनामात्र हैं। वैराग्य कैसे प्राप्त होता है, यह विषय यहाँ चल रहा है। अनेक भोगों की आसक्ति मुझे क्यों होनी चाहिए? कश्मीर की पदयात्रा की बात है। मैं पहाड़ चढ़ता था तो दृष्टि एकाग्र रखकर चढ़ता था। हमारे साथी कहा करते कि 'देखिये, कैसा सुन्दर दृश्य है!' लेकिन मैं अपनी आँख इधर-उधर घुमाये बिना चलता था। इसलिए मैं बिलकुल निर्भयता से चलता था। काफी ऊँचाई पर हमें जाना था। एकाग्रता के साथ चलता था, इसीलिए मैं बचा। सौन्दर्य देखने लगता तो गिर जाता। जिसे 'सौन्दर्य' कहते हैं, वह आँखों के कारण पैदा हुआ है। वह विकल्प है, यह जानकर ज्ञानी पुरुष विरक्त होता है।

यह सारा कहने में केवल भावना ही नहीं, प्रमाण भी बताया है। प्रमाण से सिद्ध किया कि जो चीज टिकती नहीं, उसके लिए हम क्यों लट्टू हों ? हमारा घर बड़ौदा में था। मैं बच्चा था। एक बार शहर में एक जगह रोशनी थी। काफी लोग देखने के लिए जा रहे थे। पिताजी ने मुझसे कहा : 'तुम्हें भी जाना हो तो जाओ।' मैंने उनसे पूछा : 'आप नहीं जायँगे ?' उन्होंने समझाया : 'एक मिट्टी का दिया लिया, उसके पास दूसरा रखा, उसके पास तीसरा रखा। इसी तरह एक के बाद एक सैकड़ों बत्तियाँ लगायीं। उसमें देखने की क्या बात है ?' मुझे यह बात एकदम जँच गयी। आकाश में कौए उड़ते हैं। उनकी तरह-तरह की आकृतियाँ बनती हैं। हम कहते हैं : 'कितना सुन्दर!' वैसे देखा जाय तो वहाँ सुन्दर क्या है ? आपने एक काल्पनिक लकीर बनाकर उस पर सुन्दरता का आरोपण कर दिया। कौओं से पूछें कि क्या तुमने यह आकृति बनायी ? तो वे कहेंगे : 'हम तो सिर्फ उड़ रहे थे।' इसीलिए ज्ञानी—**विकल्पात् विरज्यते।**

**( १९.८ ) कर्मणां परिणामित्वात् आविरिंचादमंगलम्।**
**विपश्चिन्नश्वरं पश्येत् अदृष्टमपि दृष्टवत्॥**

—११.१९.१८.

अभी तक हमने वैराग्य कैसे पैदा होता है, यह देखा। वस्तु स्थिर है या नहीं, उसमें तथ्य है या नहीं, यह देखने के लिए प्रमाण चाहिए। मूल्यांकन करना है, तो उसे प्रमाण की कसौटी पर कसना होगा। तब समझ में आयेगा कि विषय-भोग उस प्रमाण की कसौटी पर टिक नहीं पाते। वे विकल्प हैं, कल्पनामात्र हैं। अब इस श्लोक में दूसरी दृष्टि बता रहे हैं :

**कर्मणां परिणामित्वात्**—कर्म परिणामी हैं, परिवर्तनशील हैं और उनका बहुविध परिणाम निकलता है। आपने बगीचा लगाया। उसमें सुन्दर पेड़ लगाये। उनसे आपको फल भी मिलेंगे और छाया भी। फिर उन पेड़ों पर बन्दर आकर बैठेंगे, तो आपके घर की छत के खपरैल फूटने लगेंगे। हमारे हाथ से जो कर्म होंगे, उनसे हमारा उद्धार नहीं होगा।

हमारे उद्धार के लिए अतिरिक्त शक्ति चाहिए। कर्म के भिन्न-भिन्न

परिणाम आयेंगे। हिसाब लगाकर उनका अच्छा परिणाम लायें, यह भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि वह मुश्किल है। स्वराज्य आया तो देश के दो टुकड़े हुए, लोग मारे गये, और भी कई बातें हुईं। लेकिन इसके लिए स्वराज्य नहीं आया। तो, कर्म के परिणाम आपकी मर्जी के अनुसार नहीं होते। दुनिया में जो शक्तियाँ ( फोर्सेस् ) काम कर रही हैं, उनका असर उन पर होता है। आपने तीर फेंका तो आपके हाथ से वह छूटा, इतना ही। उसके परिणाम आपके हाथ में नहीं।

**आविरिंचात् अमंगलम्**—विरिंच यानी ब्रह्मदेव, जो एक बहुत बड़ा जीव है। वह जीव भी है और किसी कर्म का परिणाम भी। इसलिए वह भी पवित्र नहीं। सामान्य जीव से लेकर ब्रह्मदेव तक कर्म के परिणाम निकलते हैं, इसलिए वे शुभ नहीं। यह ध्यान में आ जाय, तो वैराग्य पैदा होता है।

इस दृष्ट दुनिया में नश्वरता है, वैसे ही उस अदृष्ट दुनिया में भी नश्वरता है। जिसने यह पहचान लिया, उसे देह के लिए आसक्ति पैदा नहीं होगी।

( १९.९ ) **भक्ति-योगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणस्य तेऽनघ !।**
**पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ।।**

—११.१९.१९.

इस श्लोक में पुनरावृत्ति ही है। भगवान् उद्धव से कहते हैं : भक्ति-योग जानना चाहते हो, वह तो हम पहले भी ( १४वें अध्याय में ) कह चुके हैं। पर हे निष्पाप, मेरे प्रिय भक्त ! तुम्हें श्रवण में अभिरुचि है, इसलिए फिर से कहूँगा।

भक्तियोग के साधन भगवान् सुनाते हैं। ये साधन भागवत में बार-बार कहे गये हैं :

( १९.१० ) **श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।**
**परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ।।**

—११.१९.२०.

**श्रद्धा अमृत-कथायां मे**—मेरी अमृत-कथा में श्रद्धा। दुनिया में जितना भी भक्ति-मार्ग है, वह सारा इसी पर आधृत है। मैंने ईसाइयों से पूछा

कि 'बाइबिल में अनेक कथाएँ हैं, चरित्र भी हैं और उपदेश भी। यदि हम चरित्र-कथाओं का भाग छोड़ दें और उपदेश पर का हिस्सा ही लें, तो आपका समाधान होगा ?' उन्होंने जवाब दिया : 'केवल उपदेश तो सूखा होगा। एक कोश जैसा होगा। उसके साथ ईसा मसीह का चरित्र जुड़ जाता है, तो हमें उसमें रुचि आती है, उससे हमें प्रेरणा मिलती है।'

जिसमें गुण व्यक्त होते हैं, प्रकट होते हैं, वह चरित्र है। गुण स्वयं अव्यक्त होते हैं। इसलिए यहाँ एक साधन बताया—अमृत-कथा पर श्रद्धा। रामजी को पिता की आज्ञा हुई जंगल में जाने की। वे कौसल्या माता का आशीर्वाद लेने गये। माता पूछती है : 'पिता ने तुझे जंगल में जाने की आज्ञा दे दी, पर क्या माता ने भी दी है ?' रामजी बताते हैं : 'जी हाँ, कैकेयी माता की भी आज्ञा है।' फिर कौसल्या रामजी को आशीर्वाद देती और कहती है : 'जरा दुःख होता है, लेकिन ज्यादा नहीं। हम क्षत्रियों को आखिरी उम्र में जंगल में जाना ही पड़ता है, पर तुझे जरा जल्दी जाना पड़ रहा है, इसलिए थोड़ा दुःख है।' फिर रामजी निकल पड़े। रास्ते में उन्हें कई नगर मिले, पर वे उनमें गये नहीं, क्योंकि वनवास की आज्ञा जो हुई थी। यह नहीं माना कि एक आध दिन नगर में बितायें तो हर्ज नहीं, अधिकतर समय वनवास में बीते। उन्होंने आज्ञा का अक्षरशः निष्ठापूर्वक पालन किया। यह सत्यनिष्ठा का उदाहरण है। इससे सत्य मूर्तिमान् होता है। ऐसे उदाहरणों से चित्त पर प्रभाव पड़ता है। इसीलिए भक्ति में कहा है : **श्रद्धा अमृत-कथायां मे।**

**शश्वत् मदनुकीर्तनम्**—निरन्तर मेरी कथाओं का कीर्तन करना चाहिए। महाराष्ट्र में कीर्तन का सुन्दर रिवाज है। कीर्तन करने के लिए एक के बाद एक खड़ा होता है। जो कीर्तन करता है, दूसरे लोग उसके पाँव छूते हैं। उसमें छोटे-बड़े का सवाल नहीं। एक भक्त से किसीने पूछा : 'तुमने इतिहास, उपन्यास पढा है ?' भक्त ने जवाब दिया : 'उन्हें पढ़ने की क्या जरूरत ? रामायण तो है ही। उपन्यास में नवरस आते हैं, इतनी ही बात है न ? रामायण में वे सब रस हैं।' मतलब यही कि इसी एक पुस्तक में हमें सब कुछ मिलता है, पर्याप्त बोध मिलता है। रामदास स्वामी ने कहा है :

**जेथे नाहीं श्रवण स्वार्थं।....**
**तेथे साधकें एक क्षण। क्रमूं नये सर्वथा॥**

—'जहाँ श्रवण-रूप स्वार्थ न सध पाये, वहाँ साधकों को एक क्षण भी नहीं गँवाना चाहिए।'

फिर कहा है कि पूजा में श्रद्धा होनी चाहिए—**परिनिष्ठा च पूजायाम्।** **स्तुतिभिः स्तवनं मम**—भगवान् का गुणगान करना चाहिए। तो क्या होगा ? माधवदेव ने 'नामघोषा' में कहा है :

**कर्ण-पथे भक्तर हियात प्रवेशि हरि।**

अर्थात् 'कर्ण-मार्ग से भक्त के हृदय में हरि प्रवेश करते हैं।' माधवदेव ने आगे कहा है कि "वे दुर्वासना हरण करते हैं, इसीलिए उनका नाम 'हरि' है।" कान से श्रवण करेंगे, तो वह कण्ठ में आयेगा। कण्ठ से हृदय में जायगा। फलतः हृदय में जो दुर्वासनाएँ होंगी, वे नष्ट हो जायँगी। इसीलिए श्रवण-कीर्तन होता है तो हृदय में सद्भावना बढ़ती है।

(१९.११) **आदरः परिचर्यायां सर्वांगैर् अभिवंदनम्।**
**मद्भक्त-पूजाऽभ्यधिका सर्व-भूतेषु मन्मतिः ॥**

—११.१९.२१.

**आदरः परिचर्यायाम्**—सेवा के लिए तत्पर रहना चाहिए। उसके लिए मन में आदर होना चाहिए। यह भागवत-धर्म की निष्ठा है और **सर्वांगैः अभिवंदनम्**—सर्वाङ्ग से नमस्कार करना चाहिए, यानी पूर्ण नम्रता होनी चाहिए। सब भूतों में भगवान् हैं, यह भावना होनी चाहिए। **सबमें रम रहिया प्रभु एकै !** और जो-जो मेरे भक्त हैं, उनकी तो विशेष पूजा करनी चाहिए—**मद्भक्त-पूजा अभ्यधिका।**

इतना भेदभाव रखना होगा। उन्हें डर लगा कि आप भक्त और अभक्त में भेद नहीं करेंगे, तो क्या होगा ? सबके लिए हरि-भावना रखना ठीक ही है। लेकिन जो चरित्रवान् हैं, शीलवान् हैं, उनकी अधिक पूजा होनी ही चाहिए। घोड़े को आप घास खिलाते हैं, ब्राह्मण को नहीं। उसे तो अनाज ही खिलायेंगे। घोड़े को खिलाने की घास ब्राह्मण के सामने रखेंगे तो क्या होगा, समझने की बात है। भगवान् बता रहे हैं कि भूतों में भेदभाव नहीं होना चाहिए, लेकिन उसमें भी विवेक अवश्य रखना चाहिए। इसीलिए कहा है—**सर्व-भूतेषु मन्मतिः, मद्भक्तपूजा अभ्यधिका।**

**( १९.१२ ) मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।**
**मय्यर्पणं च मनसः सर्वकाम-विवर्जनम् ॥**

—११.१९.२२.

**अंगचेष्टा**—शरीर की हलचलें। **मदर्थे**—मेरे लिए। यानी शरीर की जितनी हलचलें हों, सब मेरे लिए ही हों।

हम शरीर की सारी हलचलें भगवान् के लिए ही कर रहे हैं, ऐसी भावना होना साधारण बात नहीं। हम खाते हैं, पीते हैं, बोलते हैं, स्नान करते हैं, जो भी करते हैं, सारा भगवान् के लिए। ऐसी कोई भी शारीरिक चेष्टा न हो, जो भगवान् के लिए नहीं। यह शरीर भी भगवान् के लिए ही है। इसलिए हमें ध्यान में रखना चाहिए कि भगवान् की सेवा के लिए शरीर चले। इसी दृष्टि से हम खाते-पीते हैं। यदि हमारा भगवान् से सीधा सम्बन्ध हो, तो यह बात सरल हो जाती है। अन्यथा हर चीज ईश्वर के लिए ही हो रही है, यह सधना मुश्किल जायगा।

**वचसा मद्गुणेरणम्**—वाणी से भगवद् गुणों का कथन। प्राणिमात्र गुण-दोषों का मिश्रण है। इसलिए हमें भगवान् के ही गुण गाने चाहिए। मतलब यह कि भक्त सदैव गुणों का ही उच्चारण करेगा, किसीके दोष नहीं देखेगा। यदि दोष दिखाई दिया, तो उस पर नहीं सोचेगा। जहाँ कहीं गुण देखेगा, वहींसे उसे खींच लेगा। लोहचुम्बक जमीन पर पड़े अनेक प्रकार के कणों में से लोहे के कण ही खींच लेता है। ऐसी ही गुण-चुम्बक वृत्ति होनी चाहिए। मैं भगवान् के गुणगान का यही अर्थ करता हूँ।

ऐसा कोई प्राणी नहीं, जिसमें एक भी गुण न हो। मैं प्रायः मकान की मिसाल दिया करता हूँ। गरीब-से-गरीब के मकान को भी कम-से-कम एक दरवाजा तो होता ही है। बिना दरवाजे का मकान नहीं होता। वैसे ही हर मनुष्य में एकआध गुण तो होगा ही। दोष दीवारों के स्थान पर हैं, तो गुण दरवाजों के स्थान पर। हृदय-प्रवेश दरवाजे से ही होगा। मतलब, किसीके हृदय में प्रवेश करने के लिए हमें उसमें एकआध गुण तो ढूँढ़ना ही होगा। यदि दोष ही देखेंगे, तो दीवार के साथ टकरायेंगे, अंदर प्रवेश न कर पायेंगे। हीन से हीन प्राणी में भी एकआध गुण है, उसीके आधार पर वह जीवन जी रहा है। गुण है, इसलिए अहंकार

है। जीवन के लिए आधार ही नहीं रहेगा, यदि एक भी गुण उसमें न हो। यानी किसीमें जीवन की प्रेरणा है, तो उसका होना ही उसमें गुण होने का प्रमाण है। गुण है, इसलिए जीवन की आकांक्षा है। तो, आप मेरे गुण ढूँढ़ें, मैं आपके ढूँढ़ूँगा। इसमें आपका और मेरा, दोनों का मेल है। यही अर्थ है निरन्तर भगवद्-गुणगान का।

फिर कहा है—**मय्यर्पणं च मनसः सर्वकाम-विवर्जनम्**—सब प्रकार की कामनाएँ छोड़कर मुझमें अपने मन का समर्पण कर दें। वास्तव में यह कहने की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि जहाँ वाणी से ईश्वर का गुणगान और शरीर से सेवा होगी, वहाँ सब कामनाएँ छोड़ देना कोई बात नहीं। लेकिन हमारे जैसे श्रद्धावान् मानते हैं कि भगवान् ने यह कहा है, तो उनके कहने में भी कुछ उद्देश्य है। आपने अंगचेष्टा, वाणी, मन ईश्वर को अर्पण कर दिये; लेकिन इसकी कसौटी क्या होगी? कसौटी यही होगी कि आपकी सब कामनाएँ खतम हो गयीं। **सर्वकाम-विवर्जनम्**—यह खरी कसौटी (एसिड टेस्ट) है। कामना-मुक्ति भगवद्-भक्ति की कसौटी है।

मन भगवान् को अर्पण करना भक्ति के प्रारम्भ में होता है। लेकिन उसकी कसौटी है, कामना-मुक्ति। यह बहुत महत्त्व की चीज है, जिसका भगवान् आगे गौरव कर रहे हैं। वे कहते हैं:

(१९.१३) **एवं धर्मैर् मनुष्याणां उद्धवात्मनिवेदिनाम्।**
**मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥**
—११.१९.२४.

हे उद्धव! **एवं धर्मैः**—ऐसे धर्मों से। अभी तक जिन गुणों का वर्णन किया, अब उन्हें 'धर्म' नाम दिया: **भागवत-धर्मः**—ऐसे भागवत धर्म से। **आत्म-निवेदिनां मनुष्याणाम्**—आत्मनिवेदन करनेवाले मनुष्यों में। **भक्तिः संजायते**—भक्ति पैदा होती है। भक्ति पैदा होने पर क्या किया जाय, यह तो भक्त जानता ही है। जो कुछ करना होता है, वह भक्ति पैदा होने के पहले ही है। आत्म-निवेदन यानी अपना सारा खोलकर रख देना—कोई चीज छिपाकर न रखना।

फिर आश्वासन देते हैं कि उनके लिए और कोई अर्थ प्राप्त करना बाकी नहीं रहेगा—**कः अन्यः अर्थः अस्य अवशिष्यते?** भक्ति यानी

रत्नचिन्तामणि। भक्त को यदि वह सध जाय, तो उसे सब कुछ प्राप्त हो गया। उसके अलावा और कोई वस्तु प्राप्तव्य हो, तो उसकी चिन्ता भगवान् स्वयं करेंगे।

( १९.१४ ) **यदाऽऽत्मन्यर्पितं चित्तं शांतं सत्त्वोपबृंहितम्।**
**धर्मं ज्ञानं स-वैराग्यं ऐश्वर्यं चाभिपद्यते॥**
—११.१९.२५

**यदा आत्मनि अर्पितं चित्तम्**—जब चित्त अन्दर अपनी आत्मा को अर्पित किया जाता है। आज तो आपका चित्त आत्मा को नहीं, दुनिया को अर्पित है। 'आओ जाओ, घर तुम्हारा!' आपके चित्त में कोई भी विचार आ सकता है, पैठ सकता है। यानी अभिक्रम आपके नहीं, दुनिया के हाथ में होगा। पर समझना चाहिए कि दुनियाभर की चीजें हमारे हाथ में नहीं। जो हमारे हाथ की चीज है—अपना चित्त, वह तो हमने खो दिया और जो हाथ की चीज नहीं, उसे लेने बैठते हैं! फिर शान्ति कहाँ? जब चित्त आत्मा को अर्पण होगा, तभी वह शान्त हो सकेगा।

चित्त शान्त होने के बाद क्या होगा? **सत्त्वोपबृंहितम्**—सत्त्वगुण का परिपोष होगा। 'बृंहण' यानी पोषण। यह वैद्यशास्त्र का शब्द है। प्राकृतिक चिकित्सावाले लंघन ही करवाते हैं। लेकिन वैद्य लंघन भी करवाते हैं और 'बृंहण' भी। भगवान् ने कहा है, सत्त्वगुण से परिपुष्ट चित्त तब बनता है, जब वह आत्मा को अर्पित होता है।

फिर क्या मिलता है? **धर्मं ज्ञानं स-वैराग्यम् ऐश्वर्यं च अभिपद्यते**—वह धर्म, ज्ञान और वैराग्य के साथ ऐश्वर्य भी प्राप्त करता है। वैराग्य के साथ ऐश्वर्य, जनक महाराज के समान! हिन्दुस्तान के इतिहास में जिस समय अधिक-से-अधिक वैराग्य था, उस समय अधिक-से-अधिक ऐश्वर्य भी था। अपने यहाँ प्राचीनकाल से दो आदर्श माने गये हैं। एक शुकदेव का और दूसरा जनक महाराज का। शुकदेव यानी 'अन्तस्त्यागी बहिस्त्यागी' यानी वे संन्यासी थे। पर जनक कैसे थे? 'अन्तस्त्यागी और बहिःसङ्गी।' वसिष्ठ ने राम को उपदेश दिया था:

**अन्तस्त्यागी बहिःसङ्गी लोके विचर राघव।**

एक ओर से शुकदेव, तो दूसरी ओर से जनक! एक तरफ शिव, तो दूसरी तरफ विष्णु! शिव वैराग्यसम्पन्न हैं—अंदर और बाहर से, तो

विष्णु बाहर से ऐश्वर्य-संपन्न, लेकिन अन्दर से अनासक्त। हमने 'साम्य-सूत्र' लिखा है : **शुक-जनकयोरेकः पन्थाः**—शुक और जनक का एक ही मार्ग है। समझाया यह गया कि जो अपना चित्त ईश्वर को अर्पण करेगा, उसके चित्त को शान्ति मिलेगी, वह सत्त्वगुण से परिपुष्ट होगा और उसे धर्म-ज्ञान-वैराग्य के साथ ऐश्वर्य भी मिलेगा। यह सारा भक्ति से ही होता है।

## ७. वेद-तात्पर्य

छह श्लोकों का यह छोटा-सा अध्याय है। इसमें मूल के तीन अध्यायों से चुने हुए श्लोक हैं। भगवान् वेद के बारे में जो भी कहना चाहते हैं, वह सारा उन्होंने यहाँ कह दिया है।

गीता और उपनिषद् के अलावा मेरा सबसे अधिक अध्ययन वेद का हुआ है। वैसे रामायण, महाभारत मैंने पढ़ा था, लेकिन मराठी में, संस्कृत में नहीं। मूल में मेरी अभिरुचि गीता के लिए ही है। गीता छोटा-सा ग्रन्थ है, लेकिन उस पर काफी भाष्य लिखे गये हैं। वे सारे भाष्य मैंने पढ़े हैं। वेद का अध्ययन मेरी माँ मरी, उस दिन से मैंने आरंभ किया और लगातार चालीस साल किया।

**( २१.१ ) स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।**
**विपर्ययस्तु दोषः स्यात् उभयोरेष निश्चयः॥**

—११.२१.२.

**स्वे स्वे अधिकारे या निष्ठा**—अपने-अपने अधिकार में निष्ठा। यह एक गुण है। इससे उलटा, 'जहाँ अपना अधिकार नहीं, उसमें निष्ठा' दोष है। मतलब यह कि अपने अधिकार में ध्यान न देना दोष और दूसरे के अधिकार में ध्यान देना भी दोष। दुनिया में किसीकी बुद्धि कम होती है, तो किसीकी ज्यादा। कम-बेशी शक्ति के लोग दुनिया में दीखते ही हैं। यद्यपि हम चाहते हैं कि सबकी बुद्धि-शक्ति बढ़े। फिर भी, कोशिश के बावजूद यह अन्तर मूल में ही होता है। भगवान् कहते हैं कि शक्ति

भले कम हो, यदि पूरी निष्ठा है तो भगवान् की दृष्टि से शत-प्रतिशत पास हो गये। किसीका एक अधिकार होगा, किसीका दूसरा। तरह-तरह के काम में हरएक की शक्ति लगेगी। अपने-अपने अधिकार में हरएक शक्ति लगायेगा। यहाँ अधिकार का अर्थ है, कर्तव्य। अपने-अपने कर्तव्य में निष्ठा रखना ही गुण है, भगवान् यही कह रहे हैं।

भगवान् ने समाज को पूरी ताकत दे दी है, ऐसा नहीं। वे अपने पास अधिक बुद्धि-शक्ति रखते हैं। समाज को उससे कम ही देते हैं—किसीको ज्यादा, तो किसीको कम। मान लीजिये, एक को भगवान् ने पाँच सेर ताकत दी और दूसरे को नब्बे सेर। नब्बे सेर ताकतवाला समाज का अधिक काम करेगा। पाँच सेरवाला उससे अधिक न कर सकेगा। फिर भी, पाँच सेरवाला पूरी निष्ठा से काम करेगा, तो वह नब्बे सेरवाले से अधिक श्रेष्ठ माना जायगा, यही भगवान् के कहने का अर्थ है। तो, मनुष्य में बुद्धि-शक्ति के कारण ऊँच-नीच भेद नहीं मानना चाहिए। कम-बेशी बुद्धि-शक्ति भगवान् की देन है। उसका उपयोग किस तरह किया गया, इसी पर उसकी कीमत आँकी जाय।

हम कहते हैं: 'हमारे सिर पर चाँद है।' मान लीजिये, चाँद पर मनुष्य है तो वह कहेगा: 'हमारे सिर पर पृथ्वी है।' वह चाँद पर उल्टा लटका हुआ है। लेकिन चाँदवाला मनुष्य कहता होगा कि 'पृथ्वी-वाले उल्टे लगते हैं।' अमेरिका और भारत पृथ्वी के दो सिरे हैं। हमारे पाँव अमेरिका की तरफ हैं और अमेरिका के पाँव हमारी तरफ। हम कहेंगे कि 'वे उल्टे लगते हैं,' तो वे कहेंगे: 'ये उल्टे लगते हैं'। मतलब यह कि कौन उल्टा, कौन सीधा, कौन ऊँचा, कौन नीचा? प्रत्येक अपने-अपने स्थान पर है। सेवा की कीमत निष्ठा से ही होगी, चाहे शक्ति उसके पास कम हो या अधिक। जिसके पास अधिक शक्ति है, वह अधिक सेवा करेगा और दुनिया कहेगी कि वह बहुत ऊँचा है। लेकिन भगवान् के पास उसीकी कीमत होगी, जिसके पास निष्ठा है। तो, ये दो वेद के निर्णय यानी निश्चय हैं। एक: शक्ति कम है, फिर भी पूरी निष्ठा हो और दूसरा: अपने-अपने अधिकार में निष्ठा रखें।

**(२१.२) परोक्षवादो वेदोऽयं बालानां अनुशासनम्।**
**कर्म-मोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥**

—११.३.४४

अब वेद की दूसरी बात ! वेद परोक्ष बोलता है, सीधा नहीं। 'तू अमुक काम कर' ऐसा नहीं कहता, 'अमुक काम करना अच्छा है' ऐसा कहता है, यानी पर्याय से बोलता है। मतलब यह कि वेद बहुत नम्रता से बोलता है। एक मिसाल देता हूँ—एक था ज्योतिषी। एक भाई उसके पास जाकर अपना भविष्य पूछने लगे। ज्योतिषी ने कहा : 'आपके सारे रिश्तेदार आपके जीते-जी मर जायँगे।' वे भाई एकदम नाराज हो गये। उसके बाद वे दूसरे ज्योतिषी से पूछने गये। उसने उन्हें बतलाया : 'आप बहुत दीर्घायु हैं।' तो वे खुश होकर चले आये। वास्तव में दोनों ज्योतिषियों ने एक ही बात कही, पर दूसरे ने अभद्रवचन नहीं सुनाये। बात वही, लेकिन दूसरे ढंग से सामने रखी। वैसे ही वेद हमेशा प्रत्यक्ष नहीं, परोक्षवाद से बोलता है। दूसरे को चुभे, ऐसी भाषा नहीं बोलता। इसीलिए वेद-वचनों का अर्थ करना कठिन होता है। बच्चे को सिखाना है, तो उसकी रुचि देखकर, उसके मन के अनुसार प्रेमपूर्वक सिखाना पड़ता है। वैसे ही वेद सूचक शब्दों में यानी परोक्ष-पद्धति से बोलता है। वेद हमें बच्चा मानता है। बच्चों को क्या हजम होगा, यह देखकर उपदेश देता है। जैसे गाय घास खाती है और बच्चों को दूध देती है, वैसे ही वेद स्वयं घास खाकर हम बच्चों को दूध देता है।

लोग कहते हैं कि 'वेद कर्मकाण्ड कहता है।' किन्तु वेद जो कर्म करने के लिए कहता भी है, वह कर्म से छूटने के लिए। कर्म से छुटकारा पाना चाहते हो, तो खूब कर्म करो। इसमें एक मिसाल दी है : **अगदं यथा**—जैसे औषध। कर्म का विधान वेद करता है, कर्म से छूटने के लिए। कैसे ? तो औषध के समान। होमियोपैथी क्या करती है ? बुखार छुड़ाने के लिए बुखार बढ़ाने की दवा देती है। आप सिर का दर्द दूर करना चाहते हो, तो होमियोपैथी की दवा से प्रथम सिर खूब दुखेगा, बाद में धीरे-धीरे शान्त होगा। आयुर्वेद में **समं समेन, विषमं विषमेन** कहा है। पर एलोपैथी बीमारी के विरोध में दवा देती है। जो बीमारी हुई हो, उसीकी दवा देती है होमियोपैथी। रोग-मुक्ति के लिए होमियोपैथी दवा प्रथम रोग बढ़ाती है। वैसे ही वेद कर्म से छुड़ाने के निमित्त कर्म बढ़ाने के लिए कहता है। उपनिषद् एलोपैथी की दवा बताती है। कर्म से मुक्ति पाने के लिए कर्म कम करने के लिए कहती है। वेद की पद्धति इससे उलटी है। यह वेद की अपनी

कुशलता है। लोग यह बात समझते नहीं और यों ही वेद को कर्मकाण्डी बताते हैं।

अधिक कर्म करके कर्म से मुक्ति कैसे पायेंगे, यह एक प्रक्रिया है। उसकी उपपत्ति भगवान् आगे समझा रहे हैं :

**( २१.३ ) वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे।**
**नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥**

—११.३.४६

**वेदोक्तमेव कुर्वाणः**—वेद में कहा गया कर्म है वेदोक्त कर्म। भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार अनेक प्रकार के कर्म वेद ने बताये हैं। दुनिया में अनेक प्रकार के गुण हैं। उन्हें देखकर भगवान् ने कर्म बताये हैं। 'नैष्कर्म्यसिद्धि' का अर्थ है, काम न करते हुए केवल चिन्तन से ही सेवा करना—ऐसी मन की स्थिति। गीता ने इस स्थिति को 'परम-सिद्धि' कहा है : **नैष्कर्म्यसिद्धिं परमाम्।**

दवा के साथ ही होमियोपैथी पथ्य भी बताती है। वैसे ही वेद भी बताता है। वेद का पथ्य है—अनासक्ति। कर्म के फल के विषय में अनासक्त रहना और कर्म का सम्बन्ध ईश्वर के साथ जोड़ना—इन दो पथ्यों का पालन करते हैं, तो वेदोक्त कर्म करते हुए भी नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलेगी।

अब सवाल आयेगा कि वेदवाक्यों में कर्मों के फल भी बताये हैं। फिर फल छोड़ने के लिए आप कैसे कहते हैं? भगवान् कहते हैं : 'वेद में जो फलश्रुति है, वह रोचनार्थ है।' यानी कर्म में रुचि पैदा करने के लिए है।

सूरदास ने एक भजन गाया है—**मैया कबहुँ बढ़ेगी चोटी ?** कृष्ण दूध नहीं पी रहे थे, मैया यशोदा आग्रह कर रही थी तो कृष्ण ने पूछा : 'मैया, दूध पीने से क्या होगा ?' उसने कहा : 'तेरी चोटी बढ़ेगी।' सूरदास ने तो एक विनोद किया है। लेकिन वेद की युक्ति मिथ्या नहीं होती। आपको कर्म को प्रेरणा मिले, इसीलिए वेद में कर्म-फलश्रुति कही गयी है।

मनुस्मृति में आया है : 'सुबह-शाम सन्ध्या करनी चाहिए।' उसकी फलश्रुति बतायी गयी—'दीर्घायु'। यह फलश्रुति मिथ्या नहीं। दीर्घ-

जीवी होंगे, यह बात सही है। सन्ध्या करने के लिए प्रातःकाल में जल्दी उठना होगा और इसीलिए जल्दी सोना पड़ेगा। सन्ध्या के समय चित्त एकाग्र करना होगा, विकारों को हटाना होगा। यह सारा करेंगे, तो निःसन्देह आरोग्य बढ़ेगा। इसलिए यह वाक्य मिथ्या नहीं हो सकता, यह सही है। दीर्घजीवी होने के दूसरे भी अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन यह भी एक कारण है। इसका उद्देश्य यह है कि भगवान् की धारणा की जाय। सूर्यनारायण भगवान् का प्रतीक है : **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।**

सारांश, वेद ने कर्म करने के लिए जो कहा है, उसका उद्दिष्ट परमार्थ-दर्शन ही है। उसके लिए लोगों में रुचि पैदा हो, इसलिए फल-श्रुति कही गयी। पर यदि मनुष्य उसीसे चिपका रहेगा, तो उसे आरोग्य मिलेगा, लेकिन परमात्म-दर्शन नहीं। यदि वह परमात्म-दर्शन की दृष्टि रखेगा, तो उसे परमात्म-दर्शन तो मिलेगा ही, आरोग्य भी मिलने-वाला है। यह अक्ल की बात है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए।

यहाँ एक विचार की तरफ ध्यान खींचना चाहता हूँ। माना जाता है कि मनुष्य ध्यान करने के लिए बैठा, तो वह आध्यात्मिक कार्य करने बैठा। और कोई काम करेगा तो माना जायगा कि वह व्यावहारिक काम कर रहा है। इस तरह ध्यान एक आध्यात्मिक कार्य माना जाता है। लेकिन ऐसा नहीं है; जैसे कर्म एक शक्ति है, वैसे ही ध्यान भी एक शक्ति है। उसे परमार्थ के साथ जोड़ा जाय, तो वह पारमार्थिक होगा। अन्यथा, केवल ध्यान पारमार्थिक कार्य नहीं।

यही बात कर्म को भी लागू होती है। व्यावहारिक कार्य पारमार्थिक भी हो सकता है। गीता ने जो कर्मयोग कहा है, उसमें यही है। वहाँ कर्म को ईश्वर के साथ जोड़ने की बात कही गयी है।

पर व्यावहारिक या पारमार्थिक कार्य पहचानना बहुत कठिन है। वह सूक्ष्म दृष्टि से ही पहचाना जायगा। केवल स्थूल कार्य पर से उसे पहचान नहीं सकते। गांधीजी अनासक्ति की बात कहते थे। उन्होंने गीता को 'अनासक्ति-योग' नाम दिया है। वे कहते थे कि 'हमें हर काम ईश्वर की सेवा समझकर करना चाहिए।' उन्होंने चमड़ा छीलने का काम ब्राह्मणों से भी करवाया। बहुत बदबू आती थी, तो भी करने

के लिए कहा। यह सब इसीलिए हो सका कि उस काम का सम्बन्ध ईश्वर की सेवा के साथ था। लेकिन यदि हम वह भूल जाते हैं, तो आखिर सिर्फ काम ही रह जायगा। पारमार्थिक भावना चली गयी, सेवा की भावना न रही, तो केवल काम ही बचेगा। इस प्रकार अनेक कामों को उठाने में खतरा रहता है, क्योंकि मनुष्य उसमें फँसता जाता है और पारमार्थिक बात उसके चित्त से हटती जाती है। ठीक यही बात ध्यान को लागू होती है। इसलिए बाहरी कर्म या बाहरी ध्यान से किसीकी सच्ची पहचान नहीं हो सकती।

यही बात यहाँ कही गयी है। फलश्रुति केवल रुचि पैदा करने के लिए कही गयी है। यदि मनुष्य फलश्रुति में ही फँस गया, तो समझ लीजिये कि वह कर्म में ही डूब गया। उसे उसीका चस्का लगेगा। चस्का बहुत खतरनाक चीज होती है। वह लगता है, तो उससे बचानेवाला कोई नहीं। उससे अहंकार बढ़ेगा। वह बिलकुल गिरने की बात है। इसलिए भगवान् ने कहा है कि पारमार्थिक कार्य पहचानने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। वह अन्तर से पहचाना जाता है, बाहरी कार्य से नहीं।

भगवान् उद्धव को वेद-तात्पर्य के विषय में समझा रहे हैं। वेद में जो अनेक कर्म करने का विधान है, वह कर्म से मुक्ति पाने के लिए ही है। जो फलश्रुति कही गयी है, वह केवल रुचि बढ़ाने के लिए है। भगवद्-दर्शन की लालसा बढ़े, भगवत्-साक्षात्कार की इच्छा हो, केवल इसीलिए वह कही गयी है। अतः यह नहीं मानना चाहिए कि वेद कर्मकाण्डी हैं।

अब शब्द-ब्रह्म का वर्णन कर रहे हैं :

**(२१.४) शब्द-ब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेंद्रिय-मनो-मयम्।**
**अनंतपारं गंभीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥**

—११.२१.३६.

**शब्द-ब्रह्म** यानी वेद। वह अत्यन्त दुर्बोध है—**सुदुर्बोधम्** क्योंकि उसका अर्थ ढँका हुआ है। संस्कृत में वेद को 'छन्दस्' भी कहते हैं, यानी ढँका हुआ। फिर उसका कोई पार भी नहीं—**अनंतपारम्**। वह **गंभीरं दुर्विगाह्यम्**—गंभीर और दुर्विगाह्य है यानी उसमें अवगाहन कर सकें,

ऐसा नहीं है। वह **समुद्रवत्** है। ये सारे विशेषण समुद्र को ही लागू होते हैं। समुद्र जैसा गंभीर, अनन्तपार और दुर्विगाह्य होता है, वैसा ही वेद है।

फिर कहा : **प्राणेंद्रिय-मनो-मयम्**—प्राण, इन्द्रिय, मन, ये तीनों उसमें हैं। यहाँ इन्द्रिय का अर्थ है—वाणी। प्राण, वाणी और मन, तीनों के संयोग से शब्द बनता है। इसीलिए कहा कि वेद प्राणमय, इन्द्रियमय और मनोमय है। हरएक का अपना-अपना स्थान है। मनुष्य बोलता है। लेकिन आप किसीको चिट्ठी भेजते हैं, तो वह चिट्ठी भी बोलती है, क्योंकि वहाँ शब्द होता है। इसलिए भगवान् ने कहा है कि कि ये तीनों मिलकर शब्द बनता है।

वाणी चार प्रकार की मानी जाती है। इस श्लोक में चौथा प्रकार निर्दिष्ट नहीं है। उसे 'परा वाणी' कहते हैं, वह सूक्ष्म है। बाकी तीन —प्राणवाणी, मनोवाणी और वैखरी वाणी स्थूल हैं। जो वाणी केवल संकल्पमय—सूक्ष्म है, उसका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया, क्योंकि सारी सृष्टि ही संकल्पमय है। इसलिए भगवान् ने प्राण, मन और वाणी, इन तीन का ही उल्लेख किया है। मतलब यह कि उनमें भगवत्-शक्ति खर्च हुई है। इसका अर्थ क्या ? जरा गंभीरता से देखें।

सामान्यतया माना जाता है, निश्चित नहीं कह सकते, कि दुनिया का पहला ग्रन्थ वेद है। चीन भी पुराना देश है। हो सकता है कि वहाँ भी कोई पुराना ग्रन्थ हो। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' का कुछ हिस्सा भी बहुत पुराना माना जाता है। इसलिए निश्चित नहीं कह सकते कि वेद ही पुराना है। लेकिन जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद यहाँ का पहला ग्रन्थ है। तो, क्या यह आदि-शब्द माना जायगा ? ऋग्वेद में ऐसे वाक्य आते हैं, जिनमें ऋषि कहते हैं कि 'हमारे पूर्वज वेदज्ञ थे।' यानी ऋग्वेद में जो वचन आये हैं, वे उसके पहले भी थे। उसके पूर्व भी ब्रह्मवेत्ता हुए ही होंगे। मतलब यह कि शब्द कैसे बना, इसका निर्णय करना कठिन है।

इस पर मैंने काफी चिन्तन किया है। इस श्लोक में जो वर्णन किया है—**अनंतपारं गंभीरम्**, वह बिलकुल सही है। प्राण, मन, वाणी, इन शक्तियों का उपयोग शब्द के लिए हुआ, यह ठीक है। लेकिन भगवान् के प्राण, मन, वाणी का उपयोग इसमें हुआ है, यह समझ में नहीं आता।

लेकिन शब्द बन गया, तब बाद का काम सरल हो गया। शब्द बनने के बाद जो भी पराक्रम किया गया, वह सारा गौण ही है। 'सत्य' शब्द हमें प्राप्त हुआ। हमने कोई खोज तो की नहीं थी, प्रयोग तो नहीं किये थे। उस शब्द पर हमने प्रयोग किये, उस पर से हमने नये शब्द बनाये। लेकिन 'सत्य' शब्द कैसे बना, वह प्रथम किसे प्राप्त हुआ, यह हम नहीं जानते। ऋग्वेद में ऐसे हजारों शब्द हैं। ऋग्वेद के पहले भी वैसे अनेक शब्द थे।

व्युत्पत्ति-शास्त्र कहता है कि पंद्रह सौ साल पहले भाषा बनी। साहित्य की भाषाएँ तो पाँच-छह सौ साल पहले बनी हैं। उसके पहले भी प्राकृत भाषा थी। मैं इस पर सोचता हूँ, तो लगता है कि 'कर्म' शब्द से प्राकृत 'कम्म' शब्द बना। फिर उस पर से मराठी 'काम' शब्द बना। 'हस्त' पर से प्राकृत 'हत्थ' बना। उसी पर से हिन्दी में 'हाथ' और मराठी में 'हात' बना। उसी पर से अंग्रेजी 'हैण्ड' बना होगा।

लेकिन सवाल आता है कि 'हस्त' का 'हत्थ' कैसे बना? मूल शब्द 'हस्त' है, तो माता-पिता अपने बच्चे को वही शब्द सिखायेंगे। बच्चा 'हत्थ' कहेगा, तो माता-पिता सहन कैसे करेंगे? वैसे ही 'कर्म' का 'कम्म' कैसे बना? और फिर 'कम्म' का 'काम' कैसे बना? यानी बीच में अनेक पीढ़ियाँ हुई होंगी। अनेक 'माइग्रेशन' ( प्रव्रजन ) हुए होंगे। बदले हुए स्थानों का उच्चारण पर प्रभाव पड़ा होगा। इसलिए इसमें 'माइग्रेशन' की 'थिअरी' ( सिद्धान्त ) आती है। एक ही माता-पिता के बच्चे अलग-अलग हजारों मील दूरी पर चले गये, इसलिए वाणी में फरक पड़ा, ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। यदि एक ही जगह होते, तो फरक पड़ना संभव नहीं दीखता। कोई कहते हैं कि 'वेद पाँच हजार साल पुराना है।' लेकिन मैं कहता हूँ कि लाखों साल पुराना हो सकता है। बहुत-से 'माइग्रेशन' के बिना शब्दों का अपभ्रंश होना संभव नहीं दीखता। इसलिए सारा इतिहास शब्दों से ही निकालना पड़ता है।

फिर सवाल आता है कि मूल में शब्द बना कैसे? एक कौआ 'काँव्-काँव्' करता है, तो सारे कौए एकदम इकट्ठे होते हैं। किसलिए? एक बैल मरा पड़ा दीखा, तो कौए ने अपने साथियों को बुलाया। कौआ समाज-परायण होता है। खतरा होता है, तो भी वही 'काँव्-काँव्' बोला जाता है। तब सारे कौए भाग जाते हैं। लेकिन दोनों समय के 'काँव्-

काँव्' में फरक होता है। एक में आनन्द होता है, तो दूसरे में डर। प्रीति, भय, आनन्द, अनेक प्रकार की भावनाएँ एक ही 'काँव्-काँव्' से प्रकट होती हैं। इसलिए आरम्भ में क्रिया देखकर शब्द बनाया होगा, ऐसा लगता है। संस्कृत में प्रत्येक शब्द धातुमूलक है। ऐसा लगता है कि सम्मिलित चिन्तन-स्वरूप शब्द बने होंगे। अनेक शब्द बनाये गये होंगे। यह सारी प्रक्रिया होने में लाखों साल लगे होंगे। इसलिए मानना पड़ता है कि परमात्मा की प्रेरणा से ही शब्द निकला।

शब्द-ब्रह्म हमें प्रमाण है, यानी शब्दों को छोड़कर हम बोल ही नहीं पाते। शब्द का प्रयोग ही न करेंगे, तो कैसे बोलेंगे? अपनी-अपनी भावनाएँ हमें शब्दों में ही प्रकट करनी पड़ती हैं। हजारों शब्द ऐसे बने हैं। इसलिए मानना पड़ता है कि जब शब्द बन रहे थे, तब उसी प्रक्रिया में 'वेद-ग्रन्थ' बना। शास्त्रज्ञों ने भी यह मान्य किया है कि जब वाणी की बनावट हो रही थी, तभी वेदग्रन्थ बना। वेद में वाणी के अलग-अलग स्तर दिखाई देते हैं। कुछ बहुत प्राचीन हैं, तो कुछ उसके बाद के।

फिर कहते हैं कि वेद का तात्पर्य क्या है? भगवान् कहते हैं कि वेद मेरा ही अभिधान कर रहा है :

**(२१.५) मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।**
**एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।**
**मायामात्रं अनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रशाम्यति॥**

—११.२१.४३.

जितने भी शब्द हैं, उनका अन्तिम अर्थ भगवान् ही हैं। लोग अलग-अलग तरह से भगवान् की प्रार्थना करते हैं। कोई कहता है, 'तू घर है।' वेद में तो आया है कि 'भगवान्, तू मेरी रजाई है। जीर्ण मनुष्य के लिए जैसे वस्त्र प्रिय होता है, वैसा ही तू मेरे लिए प्रिय है।' कोई कहता है : 'हे भगवन्! तू मेरा जीवन है। मैं प्यासा हूँ, तो मेरे लिए तू पानी बन गया!' मतलब यह कि जितने भी शब्द हैं, अन्त में वे भगवान् के ही अर्थ में हैं। गरमी के दिनों में आप कह सकते हैं कि 'भगवन्! तू मेरा पंखा है।' ऐसा कौन-सा शब्द है, जो भगवान् को लागू नहीं होगा?

इसीलिए वैदिक-पद्धति में कहा गया है कि कुल शब्द भगवद्-वाचक हैं। हरएक शब्द परमात्म-वाचक है। यानी वह परमात्मा की एक लंबी

मालिका है। हरएक शब्द का अपना गौण अर्थ तो है ही। लेकिन वेदों को तो भगवान् के मनन के सिवा दूसरी कोई रुचि (इंटरेस्ट) ही नहीं—**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**। तुकाराम महाराज कहते हैं :

**तुका म्हणे चवी आले। जें का मिश्रिले विठ्ठले॥**

'जिसमें भगवान्-रूपी मिश्रण है, ऐसा जो भी अन्न हम लेते हैं, उसमें स्वाद आ जाता है।' इसीलिए यहाँ भगवान् कहते हैं कि जो भी शब्द हैं, वे सारे मेरे ही नाम हैं।

भगवान् कहते हैं कि वेद यदि विधान करता है, तो मेरा ही करता है : **मां विधत्ते**। यहाँ 'विधान' का विशेष अर्थ है। वेद में जो आज्ञाएँ आती हैं, जो करने की बात कही गयी है, उसे 'विधान' कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि 'वेद जो कर्म करने के लिए कहता है, वह मेरी ही उपासना के लिए कहता है।' वैसे कर्म अनेक होते हैं। एक ही कर्म से भगवान् की उपासना होती है, ऐसा नहीं। भगवान् कहते हैं कि वे सारे भिन्न-भिन्न कर्म मेरे लिए ही करने हैं।

**अभिधत्ते**—अभिधान यानी देवताओं के नाम। अग्नि, वायु, इन्द्र, सोम, आदित्य, सविता, इस तरह सौ-सवा सौ देवताओं के नाम वेद में आये हैं। लेकिन भगवान् कह रहे हैं कि वे सारे मेरे ही नाम हैं। ये सारे देवता गुणांश हैं। एक-एक गुण को लेकर एक-एक देवता बना है। वैराग्य का देवता अग्नि है। इन्द्र यानी दर्शन-शक्ति। वरुण यानी संयम की शक्ति। सविता यानी प्रेरक शक्ति। इस तरह एक-एक देवता में एक-एक गुण का दर्शन होता है। मनुष्यों के अनेक नाम रखे जाते हैं, लेकिन वे भी भगवान् के ही नाम हैं।

'कुरान' में भी भगवान् के अनेक नाम आये हैं। लेकिन उससे गलतफहमी नहीं होती, क्योंकि वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि 'अल्लाह के सिवा और देवता नहीं है।' उनके गुण अनेक हैं। 'रहमान' यानी दयालु। 'करीम' यानी उदार। 'अकबर' यानी बड़ा। एक ही अल्लाह के ये अनेक रमणीय नाम हैं। एक बार मुहम्मद पैगम्बर से पूछा गया : 'आप कभी अल्लाह कहते हैं, कभी रहमान कहते हैं, इसका मतलब क्या है?' उन्होंने जवाब दिया : 'जो अल्लाह है, वही रहमान है और जो रहमान है, वही अल्लाह है।' वैसे ही, भगवान् यहाँ कहना चाहते हैं कि जो इन्द्र

है वही चन्द्र है, जो चन्द्र है वही वायु है। इसलिए यद्यपि वेद में अनेक देवताओं के नाम आते हैं, फिर भी उनसे गलतफहमी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वे भगवान् के ही नाम हैं।

कुल-के-कुल वेद का इतना ही अर्थ है कि वह खुद ही विकल्प खड़े करता और फिर उनका निरसन कर देता है। उपासना के लिए उन्हें खड़ा करता और फिर कहता है कि उनका निरसन करो।

बचपन में हमें एक बात से बड़ा दुःख होता था। हमारे दादाजी गणेशजी की मूर्ति बनाते थे। वह मूर्ति चन्दन की होती थी। मैं छोटा बच्चा था, तो चन्दन घिसने के लिए मुझे ही कहा जाता। काफी चन्दन घसना पड़ता, तब उस चन्दन की मूर्ति बनती। फिर चौदह दिन उसकी पूजा होती और आखिर में उसका विसर्जन हो जाता था। हमें इससे बड़ा दुःख होता था। इतना चन्दन घिसकर मूर्ति बनायी, चौदह दिन उसकी पूजा-उपासना की और अन्त में उसे डुबो दिया! इसे 'आवाहन-विसर्जन' कहते हैं। पर समझने की बात है कि यदि ऐसा न करें, तो मूर्ति ही भगवान् बन जाय और भगवान् का मूल स्वरूप भुला जाय। मूर्ति ही भगवान् है, यह भ्रम न रहे, इसलिए उसे अन्त में डुबो दिया जाता है। वेद कहता है कि आपने उपासना की, फिर उसकी आसक्ति हुई, तो अब उसे छोड़ दो।

पूछा जा सकता है कि आखिर वेद यह सारा झमेला क्यों खड़ा करता है? यही सुझाने के लिए कि आखिर हमें भगवान् के पास पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए। ये तो सारी सीढ़ियाँ हैं। संस्कृत में इसे 'स्थूल-अरुन्धती-न्याय' कहते हैं। आकाश में अरुन्धती का दर्शन कराते समय प्रथम सप्त ऋषियों के तारे दिखाये जाते हैं।❋ फिर उनमें से सबसे बड़ा तारा दिखाते और फिर कहते हैं कि 'उस तारे के पास जो बारीक-सी छोटी तारिका है, वही 'अरुन्धती' है।' अरुन्धती के नाम से एक-एक

---

❋. कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और वसिष्ठ—ये सात ऋषि हैं और अरुन्धती है वसिष्ठ की साध्वी पत्नी। यों तो यह अरुन्धती-दर्शन कभी किया जा सकता है, पर रात्रि में विवाह होने पर अन्त में वर-वधू द्वारा अरुन्धती-दर्शन से विवाह की सांगता की जाती है। यह 'स्थूलारुन्धती न्याय' वेदान्त में सुप्रसिद्ध है।—सं०

तारा दिखाते और फिर उसका निरसन करते जाते हैं। ठीक यही पद्धति वेद की है। बच्चों को सिखाने की यह एक अद्‌भुत पद्धति है।

एक बार चर्चा चली-'इन्द्र का रूप कैसा होता है?' कहा गया : 'इं द् र' लिखो। यह इन्द्र का रूप है। अग्नि का रूप क्या है? 'अ ग् नि'। यह एक प्रकार की उपासना है। 'दूध दीजिये' लिखकर एक कागज आपके पास भेजा और आप वह चिट्‌ठी पढ़कर कागज पर 'दूध' ये अक्षर लिख दें, तो क्या काम चलेगा? नहीं। चिट्‌ठी पढ़कर आप दूध देंगे। 'दूध' इन अक्षरों से आप 'गाय का दूध' जान लेंगे। मतलब यह कि 'दूध' ये अक्षर, आपकी उपासना हुई। इसी तरह जो सारा शिक्षण चलता है, जो साहित्य है, वह उपासना है। उसका अर्थ यही है कि मिथ्या अक्षरों पर यथार्थता की कल्पना करना। 'दूध' पर से 'दूध' जानना।

लेकिन कोई अंग्रेजी जाननेवाला हो, तो वह 'दूध' पर से कुछ भी नहीं समझेगा। उसके लिए 'मिल्क' लिखना, कहना पड़ेगा। कोई कहता है: 'मुझे शिवलिंग चाहिए।' एक को शालग्राम मिलता है और दूसरे को शिवलिंग, तभी वह उस पर भावना कर पाता है। जैसे 'दूध' और 'मिल्क' ये अक्षर भिन्न हैं, पर वस्तु में फरक नहीं, वैसे ही 'शालग्राम' और 'शिवलिंग' भिन्न होने पर भी मूल वस्तु में कोई फरक नहीं है। यही **अर्थ है**—भगवान् की उपासना का भी। भगवान् कहते हैं कि आरंभ में इन वस्तुओं का आधार लें, उपासना करें, पर अन्त में वह भी छोड़ दें।

**एतावान् सर्ववेदार्थः**—यही सर्व-वेदों का अर्थ है। प्रथम मेरा जो भेदरूप है, उसका आधार लो : **मां भिदाम् आस्थाय**—यह कहकर, बाद में वेद उसीका निषेध करता है—**प्रतिषिद्‌ध्य**। पहले पकड़वाता है, बाद में अनुवाद करता है, उसके बाद निषेध करता है और अन्त में स्वयं वेद भी खतम हो जाता है। वेद कहता है कि अन्त में मेरा भी त्याग कर दो। नारद ने सन्यास का वर्णन करते हुए कहा है: **वेदान् अपि संन्यसति**—'वेदों को भी छोड़ देता है!'

इस तरह वेद हमसे एक कठोर काम करवाता है। जिसे हमने पहले पकड़ा था, फिर उस पर उपासना की, उसे सँजोया-सँभाला, अन्त में उसीको वह छोड़ने के लिए कहता है। यदि आपकी वैसी तैयारी न होगी और केवल पहली ही आज्ञा मानें, तो आप आज्ञाधारक सिद्ध न होंगे।

वेद अन्तिम अनासक्ति की बात कहता है। भगवान् कहते हैं कि अन्त में तुम्हें अनासक्ति सध गयी, तो परमात्मा की प्राप्ति होगी। वेद पहले गृहस्थाश्रम की आज्ञा देता है। गृहस्थाश्रम करवा लेता है। फिर कहता है, 'अब तुम्हारा लड़का बड़ा हो गया, उस पर सारा भार सौंपकर तुम परिचर्या करो।' उसे वानप्रस्थाश्रम की आज्ञा देता है। इस तरह वेद एक-एक चीज पकड़ने के लिए कहता है और बाद में सब छोड़ने के लिए कहता है। वेद नहीं चाहता कि आप आखिर तक उसीकी आज्ञा का पालन करें। वह कहता है कि आप स्वयं वेद बनें।

**( २१.६ ) शब्द-ब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।**
**श्रमस् तस्य श्रम-फलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥**

११.११.१८.

शब्द-ब्रह्म में निष्णात हुआ, पर परब्रह्म में निष्णात नहीं हुआ, तो क्या होगा ? शब्द-ब्रह्म का 'गाऊन' पहन लिया। वास्तव में डिग्री देते समय गाऊन पहनाना तो पश्चिम का रिवाज है। वहाँ ठंड होती है, इसलिए गाऊन पहनाते हैं। पर हमारे यहाँ विद्या पूर्ण होने पर शिष्य को बिदा किया जाता तो गुरु अपने हाथों से उसे स्नान करवाता था, क्योंकि हमारा मुल्क गरम है। यह स्नान कराते थे, तो माना जाता कि वह उस शास्त्र में निष्णात हो गया—स्नातक हो गया। आजकल जो डिग्री पाते हैं, वे अपने-अपने विषय में निष्णात होते हैं। पर परब्रह्म में निष्णात न हुए, तो क्या हुआ ? शब्द-ब्रह्म में निष्णात है और परब्रह्म में निष्णात नहीं, तो शब्द-ब्रह्म के लिए जो श्रम किया, उसका फल श्रम ही मिला। उसने परमात्मा को नहीं पहचाना। श्रम का फल नहीं मिला, श्रम ही मिला। ठीक वैसे ही, जैसे वन्ध्या ( बांझ ) गाय का रक्षण करते हैं, तो उसका फल श्रम हो होता है, उससे तनिक भी दूध, अमृत नहीं मिलता।

## ८. संसार-प्रवाह

( २२.१ ) मनः कर्म-मयं नृणां इंद्रियैः पंचभिर् युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥

—११.२२.३६.

मरने के बाद मनुष्य एक लोक से दूसरे लोक में जाता है। **लोकात् लोकं प्रयाति**—एक लोक को छोड़कर अन्य लोक में प्रयाण करता है, यानी चला जाता है। 'प्रयाति' यानी प्रयाण करना। मन अकेला नहीं जाता। अपने साथ और भी कुछ लेकर जाता है। कह रहे हैं कि मन कर्म को लेकर जाता है और पाँच इन्द्रियों को लेकर जाता है। कोई कहेगा : 'मरने के बाद इन्द्रियाँ तो जैसी-की-तैसी देह के साथ जुड़ी रहती हैं। देह के साथ ही आँख, कान, नाक—सारी इन्द्रियाँ जलायी जाती हैं। मन के साथ तो इन्द्रियाँ जातीं नहीं !' लेकिन बात ऐसी नहीं है। हम इन्द्रियों को नहीं जलाते। हम जलाते हैं देह को। मरने के बाद आँखें तो रहती हैं, पर दर्शन-शक्ति नहीं रहती, दर्शन की वासना नहीं रहती। कान हैं, लेकिन कान की शक्ति नहीं, श्रवण की वासना नहीं। मन के कारण वासना रहती है और प्राण के कारण शक्ति। सुनने और देखने की वासना लेकर मन जाता है। फिर कर्म क्या चीज है ? कर्म का फल भोगना पड़ेगा। यह संसार-प्रवाह का अध्याय है। संसार यानी बहाव। संसार सतत बह रहा है। 'संसरणम्' यानी बहाव। कर्म और इन्द्रियों के साथ मन कहाँ से कहाँ जाता है ? तो कहते हैं : 'लोकात् लोकम्।'

आत्मा क्या करता है ? आत्मा बिलकुल अलग है—अन्यः। **आत्मा तदनुवर्तते**—आत्मा मन के पीछे-पीछे जाता है। आत्मा यानी जीवात्मा। 'कुरान' में इसे 'रूह' कहा है। मुहम्मद पैगम्बर से पूछा गया : 'क्या तुम रूह जानते हो ?' तो उन्होंने उत्तर दिया : 'यदि मैं जानता, तो कुल दुनिया पर मेरी सत्ता चलती।' इसका अर्थ है कि जीव-विषय हमारे हाथ में नहीं। यह बात सही है।

**( २२.२ ) नित्यदा ह्यंग ! भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।**
**कालेनालक्ष्य-वेगेन सूक्ष्मत्वात् तन्न दृश्यते ।।**

—११.२२.४२.

**अङ्ग** संबोधन जैसा दीखता है, लेकिन यह संबोधन नहीं, अव्यय है। अरे! ये प्राणी सतत प्रकट होते और लुप्त हो जाते हैं—**भूतानि भवन्ति न भवन्ति च**। अभी हम यहाँ बैठे हैं। घण्टेभर बैठे ही रहेंगे यानी हम कायम रहेंगे। लेकिन भागवत कहती है कि ऐसी बात नहीं। मनुष्य प्रतिक्षण मरता और पैदा होता है। मरने और पैदा होने की यह क्रिया अतिशय वेग से चल रही है। वैज्ञानिकों का कहना है कि जिसे हम निद्रा कहते हैं, उसमें भी एक क्षण निद्रा रहती है और दूसरे क्षण जागृति। इसी तरह जिसे जागृति कहते हैं, उसमें एक क्षण जागृति तो दूसरे क्षण निद्रा रहती है। निद्रा में निद्रा के क्षण अधिक होते हैं, इसलिए उसे 'निद्रा' कहते हैं और जागृति में अधिक क्षण जागृति रहती है, इसलिए उसे 'जागृति' कहते हैं। इसी तरह भागवत कहती है कि प्रत्येक प्राणी प्रतिक्षण मरता और जन्म पाता है। पर यह क्रिया समझ में नहीं आती, क्योंकि यह सूक्ष्म है और काल का वेग है तीव्र—**कालेन अलक्ष्य-वेगेन सूक्ष्मत्वात्**। इसलिए हमें भास नहीं होता कि प्राणी प्रतिक्षण मरता और पैदा होता है।

इसीका अधिक स्पष्टीकरण आगे के श्लोक में किया जाता है :

**( २२.३ ) सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम्।**
**सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर् धीर् मृषायुषाम् ।।**

—११.२२.४४.

हमें भास होता है कि वही दीप जल रहा है, लेकिन ऐसा नहीं है। पुराना जाता है और नया आता है। **अर्चिषाम्** यानी ज्वालाएँ। ज्वालाएँ जल रही हैं, उनमें हमें सातत्य का भास होता है। वे सतत जलती हैं। हमें लगता है कि दीपक जल रहा है। गंगा का पानी बह रहा है, लेकिन वही पानी नहीं बहता। पुराना पानी जाता और नया आता है, लेकिन हमें भास होता है कि वही पानी बह रहा है। इसी तरह 'यह वही आदमी है' ऐसा मिथ्याभास हमें होता है। आदमी वही पुराना नहीं है, वह बदल गया है। अभी एक, दूसरे क्षण में दूसरा, तीसरे क्षण में तीसरा, ऐसा सतत बदलता है। इसलिए कभी किसीसे गुस्सा नहीं करना चाहिए,

क्योंकि जिसने अपराध किया, वह तो खतम हो गया। दूसरे क्षण वह रहा ही नहीं।

रवीन्द्रनाथ ने कहा है : **नूतन करे नूतन प्राते**—हर प्रातःकाल नया व्यवहार करो। यहाँ रवीन्द्रनाथ एक दिन की ही बात कहते हैं। लेकिन भागवत प्रतिक्षण की बात करती है। मनुष्य तो प्रतिक्षण बदल रहा है। प्रायः होता क्या है? राम ने अपराध किया, गोविन्द पर मुकदमा चलाया, कृष्ण को सजा दी और हरि को फाँसी चढ़ाया। जिसने अपराध किया, वह दूसरे क्षण रहा ही नहीं। जिसने अपराध किया, वह पुराना हो गया। यदि यह बात ध्यान में रखें, तो पुरानी बातें चित्त से चिपकी नहीं रहेंगी। पुरानी चीजें ध्यान में रखनी ही नहीं चाहिए।

अब सवाल पूछा जायगा कि मनुष्य का अखण्ड अनुसन्धान न हो, तो कर्मफल का क्या होगा? व्यवहार भी खतम होगा। एक आदमी था, वह एक होटल में भोजन के लिए गया। अच्छा भोजन कर लिया। भोजन का पैसा देना था। वह मैनेजर के पास गया और कहने लगा कि 'संसार का चक्र तो चलता ही रहेगा। आदमी मरता है और फिर जन्म पाता है। इसलिए मैं आगे आनेवाला हूँ, तब तुम्हारे पैसे दूँगा।' मैनेजर ने कहा : 'आप कहते हैं, वह बात तो ठीक है। लेकिन इसके पहले आप जो खाये थे, उसका पैसा तो दे दीजिये, उसे लिये बगैर मैं आपको छोड़ूँगा नहीं।'

समझना चाहिए कि भागवत का अक्षरशः अर्थ करेंगे, तो व्यवहार ही नहीं चलेगा। यहाँ जो कहा है, वह दर्शन के तौर पर नहीं। उसका अर्थ यह है कि मनुष्य में परिवर्तन हुआ होगा, वह जानने की वृत्ति होनी चाहिए। 'वही यह मनुष्य है'—यह भाषा, यह वाणी—**'गीर्'** और यह बुद्धि—**'धीर्'** व्यर्थ ही है। कहा गया है कि सात साल में शरीर का खून बदल जाता है। पहले जमाने में तपस्या बारह साल की मानी जाती थी, यानी उस अवधि में मनुष्य पूरा बदल जाता है, ऐसा माना जाता था। भागवत में जो 'प्रतिक्षण बदल' की बात कही गयी, वह उत्कट भावना के कारण है।

यदि यह बात ध्यान में आ जाय, तो दुनिया के सारे झगड़े ही खतम हो जायँगे। फिर पुराने बुरे भाव ध्यान में क्यों रखे जायेंगे? मनुष्य प्रतिक्षण बदलता है, यह मानने में दार्शनिक प्रश्न खड़े होंगे।

लेकिन दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि करेंगे। भागवत के सामने तो जीवन-दृष्टि का ही प्रश्न है। मनुष्य का शरीर तो बदलता ही है। बच्चा घर से चला गया और बारह साल बाद घर आया, तो माँ ने पहचाना नहीं,—ऐसी कहानियाँ सुनते ही हैं। जैसे उम्र बढ़ती है, वैसे शरीर जीर्ण होता है। बचपन में मैं जैसा था, वैसा अभी नहीं हूँ। पहले रोज दस-बारह मील चलता था, लेकिन अब दिनभर में दो बार मिलकर डेढ़ मील चलता हूँ। मन का तो सवाल ही नहीं। फिर दिनभर में तीन गुणों का चक्कर तो चलता ही है। रात में तमोगुण आता है, दिन में रजोगुण काम करता है। सुबह-शाम को सत्त्वगुण होता है। गुण भी बदलते रहते हैं।

पूछा जायगा कि मनुष्य बदलता है, तो कर्म-फल कौन भोगेगा? समझने की बात है कि कर्म-फल से हम तुरन्त मुक्त हो सकते हैं, यदि अहंकार से मुक्त हो जायँ। लेकिन मनुष्य अपने अहंकार से चिपका रहता है। अहंकार छूट जाता है, तो पुराने पाप खतम हो जाते हैं। लेकिन अहं कहाँ छूटता है? 'यह मैंने किया, वह मैंने किया'—इस तरह का अहंकार मनुष्य को रहता ही है। इसलिए उसे पाप-पुण्य का फल भोगना ही पड़ता है। अहंकार को तोड़ सकें, तो सबसे मुक्त हो सकते हैं। अतः अहंकार-मुक्ति ही मुख्य बात है।

**( २२.४ ) निषेक-गर्भ-जन्मानि बाल्य-कौमार-यौवनम्।**
**वयोमध्यं जरा मृत्युर् इत्यवस्थास् तनोर् नव॥**

—११.२२.४६

यहाँ मनुष्य की नौ अवस्था बतायी गयी हैं।※ वीर्य-बिन्दु से लेकर मृत्यु तक नौ अवस्थाएँ। शेक्सपीअर ने 'सेवन स्टेजेज आफ मैन' ( मनुष्य की सात अवस्थाएँ ) लिखा है। मनुष्य नाटक कर रहा है और वह सात अवस्थाओं में प्रकट होता है। पर भागवत नौ अवस्थाएँ बता रहो है। भावार्थ यही है कि बचपन से मरने तक वही शरीर नहीं रहता और मन भी वह नहीं रहता। लेकिन इतना होते हुए भी आत्मा सत्य है। परिणाम क्या होता है? कहते हैं:

---

※ १. गर्भाधान, २. गर्भवृद्धि, ३. जन्म, ४. बाल्य, ५. कौमार, ६. यौवन, ७. प्रौढ़ावस्था, ८. जरा और ९. मृत्यु—ये वे अवस्थाएँ हैं।

**( २२.५ ) प्रकृतेरेवमात्मानं अविविच्याबुधः पुमान् ।**
**तत्त्वेन स्पर्श-संमूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥**

—११.२२.५०.

प्रकृति का, मन का प्रवाह बह रहा है, लेकिन आत्मा अखण्ड कायम है। नदियों का पानी बहता ही रहता है। पुराना जाता और नया आता है, लेकिन नदी कायम है। उसका मूल कायम है। ठीक इसी तरह आत्मा प्रकृति से अलग है, मन से भी अलग है! फिर भी हम आत्मा को प्रकृति से अलग नहीं करते : **अविविच्य**—अविवेक के कारण। धान का छिलका हटाने पर ही हमें चावल मिलता है। छिलका हटाना ही पड़ता है। लेकिन मूर्ख मनुष्य प्रकृति से, मन से आत्मा को अलग नहीं समझता। अतएव वह **स्पर्श-संमूढ** बनता है, यानी स्पर्श के मोह में पड़कर फँसता है। इसी कारण उसके पीछे संसार लग जाता है। यहाँ विषयासक्त को 'स्पर्श-संमूढ' कहा है। जो स्पर्श के मोह में पड़ता है, वह मरे हुए मनुष्य को भी पकड़ता है, विवेक नहीं करता।

विवेक के अभाव में ही मनुष्य स्पर्श-संमूढ बनता है। फिर संसार प्राप्त करता है। संसार यानी बहना। इसलिए **तत्त्वेन**—तत्त्वज्ञान से, **प्रकृतेः**—प्रकृति से, **आत्मानम्**—आत्मा को, अलग कर लेना चाहिए। **अविविच्य**—अविवेक के कारण मनुष्य ऐसा न करके। **अबुधः**—मूढ़ बनता है।

आखिर में भगवान् उद्धव को आज्ञा दे रहे हैं। उद्धव भगवान् का बड़ा प्यारा था। भगवान् के दो प्रिय मित्र थे—अर्जुन और उद्धव। अर्जुन को उन्होंने 'गीता' में उपदेश दिया है। तो उद्धव को 'भागवत' में। अर्जुन से कृष्ण सोलह साल बड़े थे, लेकिन उद्धव तो कृष्ण के बाल-मित्र थे, बालपन के साथी! इसीलिए बड़े प्यार से उसे कह रहे हैं :

**( २२.६ ) तस्मादुद्धव ! मा भुंक्ष्व विषयान् असदिंद्रियैः ।**
**आत्माग्रहण-निर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥**

—११.२२.५६.

हे उद्धव! **मा भुंक्ष्व विषयान्**—तू (इन्द्रियों द्वारा) विषय-भोग में मत पड़। ये इन्द्रियाँ असत् हैं—**असत्-इंद्रियैः**। ये तुझे ठगेंगी। तू

इनके वश में मत जा और **पश्य**—देख, **वैकल्पिकं भ्रमम्**—काल्पनिक, भ्रम, जो **आत्माग्रहण-निर्भातम्**—आत्मतत्त्व के अग्रहण के कारण भासित हो रहा है। क्या भासित होता है ? कल्पना, विकल्पों का भ्रम।

यहाँ भगवान् ने उद्धव को आज्ञा की है। शास्त्र में आज्ञा या आदेश का बहुत महत्त्व माना जाता है। सारा बोध देने के बाद अन्त में भगवान् आदेश दे रहे हैं : **पश्य** यानी देख ! आत्मा के अग्रहण से भासित हुआ वैकल्पिक भ्रम है, यह देख।

समझने की बात है कि मन ही आया-जाया करता है। वह एक लोक से दूसरे लोक में जाता है और उसके पीछे-पीछे आत्मा भी जाता है। यह प्रतिक्षण होता रहता है। लेकिन काल-चक्र अत्यन्त वेग से चलायमान होने के कारण स्थिरता का भास होता है। नदी बह रही है, दीप जल रहा है, मनुष्य भी बदल रहा है। इसलिए अपने को परिवर्तनशील, बदलनेवाली देह से अलग कर। यह कपड़ा फटनेवाला है। इस फटनेवाले कपड़े से अलग न होने के कारण ही मनुष्य स्पर्श-संमूढ़ होता है। इसलिए उद्धव ! तू विषयों को छू मत !

# ६. पारतंत्र्य-मीमांसा

( २४.१ ) गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुंक्ते कर्मफलान्यसौ ॥

—११.१०.३१.

( २४.२ ) यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतंत्र्यं तदैव हि ॥

—११.१०.३२.

स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए ? मन से ऊपर उठना चाहिए। उसके बिना स्वातन्त्र्य संभव नहीं। सारे झमेले मन के ही कारण खड़े होते हैं। शत्रु मित्र बनते हैं, वे भी मन के ही कारण। इसलिए मन से ऊपर उठना चाहिए। फिर भूतों का भी डर नहीं रहेगा। कहा जाता है कि सर्वत्र पारतन्त्र्य है। किस कारण ? स्पष्ट है कि मन के कारण।

मन से गुण पैदा होते हैं। **मनो गुणान् वै सृजते बलीयः**—बलवान् मन गुण पैदा करता है। फिर गुणों से विलक्षण कर्म बनते हैं और फिर उन कर्मों से सारी चीजें पैदा होती हैं, झमेला खड़ा होता है। इसलिए मन से अलग रहें।

लेकिन मन से अलग होना कठिन जाता है। यदि वह आसानी से न सधे, तो क्या करें ? गुणों से अलग हो जायँ। आसान युक्ति बता दी। कर्म कौन पैदा करता है ? गुण। गुण कर्म पैदा करता है और फिर कर्म के अनुसार एक गुण से अनेक गुण पैदा होते हैं। फिर उन गुणों से कर्म पैदा होते हैं और कर्म से गुण—यह चक्र चलता ही रहता है। इस तरह गुणों की सन्तति चालू होती है—**अनुसृजते**। अनु का अर्थ है **कर्मानुसारेण, गुणान् सृजते**। इस तरह गुण-जाल बढ़ता ही जाता है। फिर **जीवस्तु गुणसंयुक्तः**—जीव गुण-संयुक्त बनता है। कर्म तो पैदा करता है

गुण, लेकिन भोगता है यह बेवकूफ जीव ! जीव मानता है कि 'यह मैंने किया, वह मैंने किया।' वास्तव मे गुण ने कर्म किये, लेकिन जीव निष्कारण गुणसंयुक्त होकर कर्म भोगता है।

जब तक यह **गुण-वैषम्य** यानी गुणों का चढ़ाव-उतार जारी रहेगा, तब तक आत्मा का **नानात्व** बना ही रहेगा। तब तक एक ही आत्मा अलग-अलग दीखेगा, आत्मा में भेद रहेगा। फिर किसीमें कुछ गुण यानी विशेषता या कमी रही, तो उसी पर ध्यान जायगा। जब तक इसमें यह गुण है उसमें वह दोष है—इस ओर ध्यान जायगा तब तक आत्मा में भेद रहेगा और तब तक पारतन्त्र्य भी स्थिर रहेगा।

पारतन्त्र्य कब तक रहेगा ? जब तक 'पर' रहेगा। स्वतन्त्र होने के लिए कहा जाता है कि 'दूसरों का ताबा हटाओ !' पर भागवत कहती है कि 'दूसरा ही हटाओ !' पारतन्त्र्य में लोग दूसरों का ताबा हटाना चाहते हैं, 'पर' का नहीं। लेकिन जब तक 'पर' नहीं हटता, तब तक कुछ नहीं बनेगा। दो राष्ट्रों में तब तक मित्रता नहीं बनेगी, जब तक 'पर' नहीं हटता। 'पर' हटेगा, तो विश्व एक बनेगा।

आज सर्वत्र कोशिश चल रही है, अपने पर से दूसरों का ताबा हटाने की। इसीको 'स्वातन्त्र्य' कहा जाता है। भागवत कहती है, ताबा हटाने की क्या बात ! 'दूसरा', यही चीज हटाओ। 'पर' को कायम रखना पारतन्त्र्य को ही कायम रखना है। जब तक आत्मा में भेद रहेगा, तब तक पारतन्त्र्य रहेगा। इस भेद को, 'पर' को हटाने के लिए क्या करना होगा ? गुण-वैषम्य हटाना होगा।

**( २४.३ ) यावदस्यास्वतंत्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्।**
**य अेतत् समुपासीरन् ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥**

—११.१०.३३.

**अस्वतन्त्रत्वम्** यानी पारतन्त्र्य। जब तक पारतन्त्र्य रहेगा, तब तक ईश्वर का भय भी रहेगा—**यावत् अस्य अस्वतंत्रत्वं तावत् ईश्वरतः भयम्।** वैसे ईश्वर का भय रखना आवश्यक भी है। फिर कहा : **ये अेतत समुपासीरन्**—जो गुण-वैषम्य की उपासना करेंगे, वे **शुचार्पिताः मुह्यन्ति**—शोकवश होकर मोहित होंगे। जब तक गुण-वैषम्य रहेगा, तब

तक ईश्वर भी हाथ में नहीं आयेगा। परमात्मा के पास पहुँच भी नहीं सकेंगे।

**( २४.४ ) काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च।**
**इति मां बहुधा प्राहुर् गुणव्यतिकरे सति॥**

—११.१०.३४.

फिर तरह-तरह के ईश्वर बनेंगे। लोग तरह-तरह के ईश्वर को मानने लगेंगे। कौन-कौन-से ईश्वर? काल-ईश्वर, आत्मा-ईश्वर, आगम-ईश्वर, लोक-ईश्वर, स्वभाव-ईश्वर, धर्म-ईश्वर। परमात्मा को अनेक प्रकार के ईश्वर मानकर पहचानेंगे। कब तक? जब तक गुण-वैषम्य है, तब तक—**गुणव्यतिकरे सति।**

कुछ लोग काल-ईश्वर को मानेंगे—'कालेश्वर'। मतलब, ईश्वर की जगह काल ने ले ली। इस तरह जो काल को ईश्वर मानते हैं, वे कालवादी बने।

दूसरे कुछ लोग आत्मा-ईश्वर को मानते हैं। यहाँ 'आत्मा' का अर्थ है बुद्धि। कहते हैं कि हम अपनी बुद्धि स्वतन्त्र रखेंगे। हमारी बुद्धि को जो जँचेगा, वही मानेंगे। अपनी बुद्धि की ताकत कितनी है, इसका खयाल करके उसीको सर्वस्व मानेंगे। इसीको 'बुद्धि-प्रामाण्य' कहते हैं। मतलब यह कि ये लोग बुद्धि के वश होकर उसीको मानेंगे, बुद्धि के गुलाम बनेंगे।

फिर है आगम-ईश्वर। आगम यानी शास्त्र-वाक्य। शास्त्र-वाक्य प्रमाण माना जाता है। कुछ लोग इस तरह शास्त्रवादी बने।

कुछ लोग लोक-ईश्वर को मानते हैं। इनके सिर पर लोग बैठ गये हैं। **यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धम्**—लोगों के डर से ये अपना काम करेंगे।

कुछ लोग स्वभाव-ईश्वर को माननेवाले हैं। वे कहते हैं कि हमें क्रोध आता है, यह हमारा स्वभाव ही है। स्वभाव को हम काबू में नहीं ला सकते। इसका मतलब है कि वे स्वभाव के गुलाम बन गये।

फिर एक है धर्म-ईश्वर। धर्म है, इसलिए करना ही पड़ेगा। मेरी माँ की मृत्यु हुई, तो मुझे श्मशान में चलने के लिए कहा गया। मैंने कहा: 'वहाँ जो विधि करनी है, वह मैं खुद करूँगा, ब्राह्मण द्वारा नहीं

होने दूँगा।' लेकिन लोगों ने यह बात नहीं मानी, तो मैं भी श्मशान नहीं गया। प्राय: धर्म की रूढ़ि होती है। उसीके अनुसार सारा किया जाता है।

भगवान् कह रहे हैं : **मां बहुधा प्राहुः**—मुझ ( परमात्मा ) को भूल-कर लोग मुझे अनेक नाम देते हैं। अलग-अलग आत्मा देखते हैं, तो स्वयं द्वेष खड़े हो जाते हैं। फिर अनेक ईश्वर खड़े हो जाते हैं। यह कब तक जारी रहेगा? जब तक गुण-वैषम्य रहेगा।

**तो, इसके लिए क्या करना चाहिए? तुकाराम महाराज कहते हैं :**

**आणिकांचे कानी। गुणदोष मना नाणी॥**

यानी 'दूसरों के गुण-दोष कान पर मत आने दो।' गुण-दोष सुनो ही मत। कहीं कान पर आ ही जायँ, तो मन में मत आने दो। सार यह कि गुणदोषों की ओर न देखें। यदि गुण-दोष की झंझट में पड़ेंगे, तो अनेक आत्मा बन जायँगे। फिर पारतन्त्र्य बना ही रहेगा और कोई-न-कोई ईश्वर सिर पर चढ़ बैठेगा।

# १०. पूजा

(२७.१) पिंडे वाय्वग्नि-संशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेत् नादान्ते सिद्ध-भाविताम् ॥
—११.२७.२३.

एक बहुत सूक्ष्म जीवकला है, उसका ध्यान करना चाहिए। जैमिनि ने आत्मा को अणु माना है, यहाँ भी कहा है कि जीवकला अणु-समान है। लेकिन यहाँ आत्मविषयक वाद नहीं है। अणु यानी सूक्ष्म जीवकला का ध्यान करने के लिए कह रहे हैं—**अण्वीं जीवकलां ध्यायेत्**। यह ध्यान कब करना है? **नादान्ते**—नाद की समाप्ति पर। नाद यानी क्या? ॐ नाद है, उसके अन्त में जीवकला का ध्यान करना है। यह जीवकला है कहाँ? **हृत्पद्मस्थाम्**—हृदय में है। कैसी है? **परां मम**—मेरी परम कला है। यह जो सारी सृष्टि दीखती है, वह भगवान् की ही कला है। लेकिन यह हृदय-कला है।

उसके लिए मन्दिर कौन-सा है? **पिंडे वाय्वग्नि-संशुद्धे**—वायु और अग्नि से शुद्ध किया हुआ पिण्ड उसका मन्दिर है। ध्यान करने से पहले उसे शुद्ध करना है। कैसे शुद्ध करेंगे? वायु और अग्नि से। अग्नि यानी पचनाग्नि। आसनादि से पचनाग्नि पैदा होती है। व्यापक अर्थ में सोचा जाय, तो शरीर-परिश्रम, खेती-काम से भी अग्नि पैदा होती है। वायु कहाँ से शुद्ध करें? प्राणायाम द्वारा वायु शुद्ध होती है।

वायु से मन्दिर शुद्ध करने के लिए कहा है, इसीलिए बाबा अधिक-से-अधिक खुले आकाश में रहता है। भगवान् की कला पेड़ में भी दीखती है, लेकिन यहाँ हृदयस्थ जीवकला को लिया है। फिर कहा है, उस कला का भावन अनेक सिद्ध-पुरुषों ने किया है। भावन यानी बार-बार स्मरण, अनुसन्धान करना। जैसे होमियोपैथी की दवा घोट-घोटकर तैयार की जाती है। इसी को कहते हैं 'पोटेन्सी' बढ़ाना। इसीका नाम है सिद्ध-

**भाविताम्**। यह सारा कहकर सलाह क्या दी ? यही कि भाई ! सिद्ध पुरुषों ने जो मार्ग दिखाया है, उस पर चलो। यानी इसके लिए मार्ग-दर्शन लेना चाहें तो सिद्ध पुरुषों से लें।

यहाँ पूजा-विधि समझायी जा रही है। प्रथम तो ध्यान करें, फिर क्या करें ? तो कहते हैं :

( २७.२ ) **स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।**
**स्तुत्वा प्रसीद भगवन् ! इति वंदेत दंडवत्॥**

—११.२७.४५.

छोटे-बड़े स्तोत्रों से स्तवन करें। कौन-से स्तोत्र ? स्तोत्र भी चुनने चाहिए। कहाँ से चुने जायँ ? पुराणों से। पुराणों से चुनने के लिए क्यों कहा ? इस लए कि वे घोटे हुए हैं, भावन किये हुए हैं। उनकी 'पोटेन्सी' बढ़ी है। कुछ प्राकृत स्तोत्र भी चल जायँगे। तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका' चलेगी। फिर स्तवन तो अपनी वाणी से करना है। **स्तुत्वा प्रसीद भगवन्** !—स्तोत्रों से नहीं, अपनी वाणी से, अपने शब्दों में भगवान् से हम क्षमा माँगें। मेरी माँ कहा करती थी : 'अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक ! मेरे अपराधों को क्षमा कर।' इसका नाम है स्तवन।

स्तोत्र भी छोटे और बड़े दोनों गाने चाहिए। 'षट्पदी'[1] जैसे छोटे और 'महिम्नः'[2] जैसे बड़े स्तोत्र गायें, जिससे छोटे-बड़े दोनों उसमें भाग ले सकें। सामूहिक भावना बताने के लिए यह कहा है। समूह में छोटे बच्चे होंगे और बड़े लोग भी, इसलिए छोटे-बड़े दोनों प्रकार के स्तोत्र गाने चाहिए। **प्रसीद**—प्रसन्न हो। **'भगवन् प्रसीद'** कहकर दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए—**वंदेत दण्डवत्**।

( २७.३ ) **मल्लिंग-मद्भक्तजन-दर्शनस्पर्शनार्चनम्।**
**परिचर्या स्तुतिः प्रह्व-गुणकर्मानुकीर्तनम्॥**

—११.११.३४.

---

१. यह 'षट्पदी-स्तोत्र' श्री शंकराचार्य-कृत कहा जाता है, जिसमें मात्र ६ श्लोक हैं। इसका आरंभ है : 'अविनयमपनय विष्णो !...'

२. 'महिम्नः-स्तोत्र' भगवान् शंकर की स्तुति में पुष्पदन्ताचार्य ने बनाया है, जिसके कुल ४३ श्लोक हैं। इसका आरंभ है : 'महिम्नः पारं ते....!'

अब सारा कार्यक्रम बता रहे हैं : 'लिङ्ग' यानी मूर्ति । **मल्लिंग** यानी मेरी मूर्ति । मेरी मूर्ति का दर्शन करें, स्पर्शन करें और अर्चन यानी पूजा करें । और किसका दर्शन, स्पर्शन, अर्चन करें ? भक्तजनों का । उनकी सेवा होनी चाहिए, स्तुति होनी चाहिए । अनेक गुणों और कर्मों का **प्रह्व**—नम्रतापूर्वक अनुकीर्तन होना चाहिए ।

इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि मेरे लिङ्ग यानी मेरे मूर्तिस्वरूप मेरे भक्तजनों का दर्शन, स्पर्शन, अर्चन होना चाहिए । यह अर्थ लेते हैं, तो मूर्ति खतम हो जाती है । नहीं तो द्वन्द्व-समास मानना होगा—( **मल्लिंग च मद्भक्ताश्च** ) मेरी मूर्ति और मेरे भक्तजन । जो अर्थ लेना हो, ले सकते हैं । **नहि वचनस्य अर्थभारो नाम कश्चित्**—वचन को अर्थ का बोझ नहीं होता । अर्थ का कितना भी भार उस पर डालो, वह उठा लेता है । इसलिए इसका जो भी अर्थ करें, ठीक ही होगा । जहाँ मूर्ति पूजा का निषेध है, वहाँ मूर्ति अर्थ न लिया जाय और जहाँ उसका निषेध नहीं, वहाँ दोनों अर्थ ले सकते हैं ।

फिर सवाल आयेगा—दर्शन, स्पर्शन, अर्चन मूर्ति और भक्त, दोनों पर लागू करेंगे, तो भक्तों पर बहुत अधिक बोझ पड़ेगा ? लोग उन्हें सतायेंगे । इसलिए भक्तों की परिचर्या करने के लिए कहा । यह सारा संतों की पूजा या सज्जनों के स्वागत का कार्यक्रम बता रहे हैं ।

**( २७.४ ) मत्कथा-श्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव !**
**सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्म-निवेदनम् ॥**

—११.११.३५.

सज्जनों का स्वागत-सेवा करके उन्हें बिदा कर दें तो काम ठीक न होगा । उनसे लाभ उठाना चाहिए, भगवत्कथा सुननी चाहिए—**मत्कथा-श्रवणे श्रद्धा** । श्रवण किससे करें ? अपने यहाँ जो सज्जन आते हैं, उनसे । फिर कह रहे हैं कि मेरा ध्यान करना है, तो उसके लिए क्या करें ? **सर्वलाभोपहरणम्**—जितना लाभ हुआ हो, उतना सारा भगवान् को अर्पण करें । सज्जनों की चरण-सेवा करके उनसे अपना दुःख आदि निवेदन करना चाहिए । दिल खुला ही नहीं, तो यह कैसे होगा ? इसलिए कहा : **दास्येनात्म-निवेदनम्**—दास्यपूर्वक यानी सेवा करके आत्म-निवेदन करें । मतलब यह कि अपनी राम-कहानी उन्हें सुनानी चाहिए ।

**( २७.५ ) यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।**
**तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥**

—११.११.४१.

लोगों में जो चीज अच्छी मानी जाती है—**इष्टतमं लोके,** वह भगवान् को अर्पण करें, **च यत् आत्मनः अतिप्रियं तत् तत् मह्यं निवेदयेत्**—और जो अपने को अतिप्रिय है, वह भी मुझ भगवान् को अर्पण करें। 'निवेद-येत्' यानी अर्पण करें। इस तरह अर्पण दो प्रकार का माना गया है। बाबा ने दोनों काम कर दिये हैं। बाबा घर से निकला, तो परीक्षा के सर्टिफिकेट अग्निनारायण को अर्पण करके निकला। यह हुआ—लोग जिसे अच्छी चीज मानते हैं, उसका अर्पण। सर्टिफिकेट के लिए लोगों में बहुत कद्र, मान्यता होती है। तो बाबा ने एक तो यह काम कर दिया। फिर दूसरा भी ! बाबा उन दिनों कविता बनाता था। लिखा, कविता अच्छी बनी, मन प्रसन्न हुआ, बाद में गंगा को अर्पण कर दिया–ऐसा चलता था।

ये दोनों प्रकार के अर्पण करेंगे तो परिणाम क्या होगा ? **आनन्त्याय कल्पते**—मुक्ति के लिए मदद मिलती है। मनुष्य छोटी-सी चीज अर्पण करता है। चीज तो छोटी होती है, लेकिन वह अर्पण करने से मनुष्य व्यापक बनता है। यदि इस तरह मनुष्य सोचेगा, तो आगे चलकर वह अपना जीवन भी अर्पण कर देगा, क्योंकि जीव तो मनुष्य को अति-प्रिय होता है।

**( २७.६ ) श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ।**
**भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥**

—११.२७.१७-१८.

**श्रद्धया उपाहृतं भक्तेन वारि अपि**—किसी भक्त ने प्रेम और भक्ति से केवल पानी चढ़ा दिया, तो वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। **प्रेष्ठं** यानी प्रियतम। प्रिय, प्रेय, प्रेष्ठ, इस तरह यह शब्द बना है। और अभक्त ने बहुत अधिक दिया, तो भी वह मेरे सन्तोष का कारण नहीं होता। कितना दिया, यह गौण चीज है। कैसे दिया, यही मुख्य वस्तु है। भक्ति से दिया, तो मुझे प्रिय है, यह तो सीधो-सादी बात है। गीता ने भी कहा :

**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।**

यह तो सभी जानते हैं। जानते सब हैं, पर सवाल है करने का !

**( २७.७ ) योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।**
**महर् जनस् तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ॥**

—११.२४.१४.

कोई योगी यानी कर्मयोगी है, जो उत्तम कर्म करता है। कोई उत्तम संन्यासी है, जो अच्छा न्यास करता है। यहाँ तीनों अवस्थाएँ दीखती हैं। योगी यानी गृहस्थ मान सकते हैं, तपस्वी और संन्यासी इन तीनों को बहुत अच्छी गति मिलेगी। कौन-सी गति मिलेगी ? उन्हें महर्लोक, जन-लोक, तपोलोक और सत्य-लोक मिलेगा। **भूः** यानी पृथ्वी, **भुवः** यानी अन्तरिक्ष, **स्वः** यानी आकाश—ये तीन लोक तो हम जानते ही हैं। यहाँ और चार लोक बताये हैं : **महः, जनः, तपः, सत्यम्**। कह रहे हैं कि योगी, तपस्वी, संन्यासियों को महः, जनः, तपः, सत्यम् ये लोक मिलेंगे। लेकिन जो मेरे भक्त हैं, उन्हें मेरी ही गति मिलेगी—**भक्तियोगस्य मद्गतिः**।

प्रश्न यह है कि आप क्या चाहते हैं ? महर्, जनस्, तपस्, सत्यम् ये लोक चाहते हैं या भगवान् के पास जाना ? भक्त-योगी के लिए बताया कि वे मेरे पास आयेंगे। भागवत की यह विशेषता है कि वह भक्ति पर जोर देती है। शेष योगियों के लिए दूसरी गतियाँ हैं। योगी का अर्थ निष्काम कर्मयोगी भी हो सकता है, ध्यानी भी हो सकता है। उनके लिए बड़ी-बड़ी उत्तम गतियाँ हैं। लेकिन भक्त भगवान् के पास पहुँचेगा। आप इनमें से जो भी गति पसन्द करें, विषयासक्ति में डूबे न रहें तो बस है।

**( २७.८ ) देवर्षि-भूताप्त-नृणां पितॄणां**
**न किंकरो नायमृणी च राजन् !**
**सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं**
**गतो मुकुंदं परिहृत्य कर्तम् ॥**

—११.५.४१.

हे राजन् ! मनुष्य के सिर पर ऋण होते हैं। जन्मतः मनुष्य ऋणी होता है। वे ऋण मनुष्य को अदा करने होते हैं। एक है देवों का ऋण,

दूसरा है ऋषियों का ऋण और तीसरा है पितरों का ऋण। ये तीन प्रकार के ऋण तो सब जानते हैं। इनके अलावा यहाँ प्राणियों का ऋण— भूतों का ऋग कहा है। गाय हमें दूध देती है, इसलिए उसका हम पर ऋण है। कुत्ता चोरों से बचाता है, इसलिए उसका भी हम पर ऋण है। फिर आप्तों का ऋण माना है। माता-पिता, बन्धुजन, ये सारे आप्त हैं। कोई डॉक्टर हमारी सेवा करता है, तो उसका भी ऋण है। तीसरा है समाज का ऋण। नृणाम्—सारे मनुष्यों का। इतने सारे ऋण मनुष्यों के सिर पर रहते हैं। लेकिन यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि जिसने अपने को भगवान् की शरण में कर लिया, उस पर कोई ऋण नहीं। वह किसीका किंकर यानी सेवक नहीं या किसीका ऋणी नहीं—**न किंकरो नायम् ऋणी च**। भगवान् मुकुन्द की शरण में जो पहुँच गया, उस पर किसीका ऋण नहीं। **शरण्यं मुकुंदं शरणं गतः यः**—जो शरणागतों के प्रतिपालक मुकुन्द की शरण में सब प्रकार से पहुँच जाय। **कर्तम्** यानी गड्ढा। **परिहृत्य कर्तम्**—गड्ढे को छोड़कर। यह सारा संसार एक बहुत बड़ा गड्ढा है, जिसमें लोग गिरते हैं। उसे बचकर, छोड़कर जो सब प्रकार से भगवान् की शरण पहुँच जाय।

( २७.९ ) **तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।**
**प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥**

—११.१२.१४.

यहाँ भगवान् साक्षात् आदेश दे रहे हैं। उपदेश और आदेश, दो प्रकार हैं। उपदेश सर्वसामान्य के लिए होता है, सबके लिए कहा जाता है। आदेश यानी आज्ञा, किसी खास व्यक्ति को दी जाती है। यहाँ उद्धव को आदेश दिया है। हे उद्धव! तू सब छोड़ दे। क्या छोड़ना है? **चोदनाम्**—आज्ञा या विधि। **प्रतिचोदनाम्**—निषेध। **प्रवृत्ति** भी छोड़ दे और **निवृत्ति** भी छोड़ दे। छोड़ने के लिए और क्या कहा? तू जो कुछ सुन चुका है, वह भी छोड़ दे और सुनने योग्य भी छोड़ दे—**श्रोतव्यं श्रुतमेव च**। मतलब, सुनने लायक छोड़ दे और सुना हुआ भी छोड़ दे। सब छोड़कर,—

( २७.१० ) **मामेकमेव शरणं आत्मानं सर्व-देहिनाम्।**
**याहि सर्वात्म-भावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥**

—११.१२.१५.

**मामेकमेव शरणं आत्मानं याहि**—सब प्राणियों के आत्मा मात्र मुझ भगवान् को शरण जा। पूरे भक्तिभाव से उनकी शरण में जा—**सर्वात्म-भावेन**। तो, तू मेरे बल पर निर्भय हो जायगा। तुझे किसी प्रकार का डर नहीं रहेगा। भगवान् की भक्ति निर्भय बनाती है—**अकुतोभयः**।

'कुरान शरीफ' में कहा है: **ला खौफुन अलैहिम व ला हुम यह्ज़नून**—जो परमात्मा के मित्र हैं, उनको न भय है, न शोक। यही गीता में कहा है: **मामेकं शरणं व्रज**। इसीलिए असम प्रदेश में 'शरण' शब्द चलता है—'एक शरण' धर्म है। कन्नड़ में बसवेश्वर के वचनों में भी यह शब्द मिलता है। 'इस्लाम' का एक अर्थ 'शरण जाना' भी है। उसका दूसरा अर्थ है 'शान्ति'। 'एक शरण' की बात इसलिए चली कि भगवान् बुद्ध ने 'तीन शरण' कहे थे: **'धम्मं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।'** पर यहाँ **मामेकमेव शरणम्** कहा है।

महाराष्ट्र के एकनाथ महाराज ने पूरी भागवत पर नहीं, केवल एकादश स्कंध पर ही भाष्य लिखा है। अपने भाष्य में उन्होंने कहा है, सारा भागवत एक बाजू रख दें और केवल दो ही श्लोक ले लें, तो काफी हैं। एक तो यही श्लोक (११.१२.१५) और दूसरा चौदहवें अध्याय का चौथा* श्लोक, ये दो श्लोक उन्होंने महत्त्व के माने हैं। उस दूसरे श्लोक में विशेष बात यही कही है कि भगवान् भक्त के पीछे-पीछे चलते हैं कि भक्तों की पद-धूलि से पवित्र हो जाऊँ। इस खयाल से यह तो अतिशयोक्ति की हद है। लेकिन ये दो श्लोक एकनाथ महाराज ने महत्त्वपूर्ण माने हैं। ध्यान देने की बात है कि भगवान् ने गीता में **सर्वधर्मान् परित्यज्य** कहकर समाप्त कर दिया, पर भागवत के इस श्लोक में उन्होंने उद्धव को क्या-क्या छोड़ना, यह विस्तार से बताया है। ●

---

* निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रि-रेणुभिः॥

—भाग० ११.१४.१६.

## ११. ब्रह्म-स्थिति

( २८.१ ) यावद् देहेंद्रियप्राणैर् आत्मनः सन्निकर्षणम् ।
संसारः फलवान् तावत् अपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥

—११.२८.१२.

**यावद्** यानी जब तक । **तावत्** यानी तब तक । जब तक देह, इन्द्रियाँ और प्राण का आत्मा के साथ **सन्निकर्षण**—सान्निध्य बना रहेगा, यानी उन्हें आत्मा की आसक्ति या स्नेह रहेगा, तब तक संसार फलता ही रहेगा, यद्यपि संसार में कोई अर्थ नहीं है । सन्निकर्षण का अक्षरशः अर्थ तो 'सान्निध्य' ही है, लेकिन 'आसक्ति' या 'स्नेह' अर्थ भी उससे निकल सकता है । संसार किसे फलेगा ? जो अविवेकी हो, उसे । जिसे इसका भान नहीं कि आत्मा देह, इन्द्रिय, मन आदि से भिन्न है, वह अविवेकी है । जिसने आत्मा-अनात्मा का अन्तर जाना, वह विवेकी है । अविवेकी का संसार फलता ही रहता है । शादी होती है, बच्चे होते हैं, फिर नाती होते हैं—इस तरह फूलता-फलता रहता है । संसार तब तक फूलता-फलता रहेगा, जब तक आत्मा का देह-इन्द्रियों से स्नेह, अनुराग या आसक्ति बनी रहेगी । फिर यह संसार है भी कैसा ? तो कहते हैं : **अपार्थ** यानी निरर्थक । यह संसार निरर्थक है, इसमें कोई सार नहीं, फिर भी अविवेकियों को लगता है कि इसमें सार है ।

( २८.२ ) अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर् न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयान् अस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥

—११.२८.१३.

बाबा जैसे दार्शनिक समझाते रहें कि इस संसार में कुछ अर्थ नहीं, फिर भी लोगों का संसार मिटानेवाला नहीं—**संसृतिः न निवर्तते** । लोग संसार से निवृत्त होनेवाले हैं नहीं । **ध्यायतः विषयान् अस्य**—जो विषयों का ध्यान करता रहेगा, उसके लिए ये विषय कभी हटने-

वाले नहीं, भले ही वे मिथ्या हों। उदाहरण द्वारा यही बात समझाते हैं : **स्वप्ने अनर्थागमः यथा**—जैसे स्वप्न में अनर्थ हुआ, तो वह हटता नहीं, वैसे ही जो विषयों का ध्यान करते हैं, उनके सामने से विषय नहीं हटते। सभीका अनुभव है, स्वप्न में देखा हुआ स्वप्न रहने तक सत्य ही लगता है। मैंने ऐसे लोग भी देखे हैं, जो स्वप्न में रोते हैं, आँखों से आँसू बहाते हैं। जाग जाने पर उनसे पूछा जाय कि क्यों रोते थे? तो जवाब नहीं दे पाते; क्योंकि उन्हें कुछ याद ही नहीं आता। इस तरह स्वप्न अनर्थ होता है, मिथ्या है; फिर भी सत्य लगता है और जाग जाने पर उसके मिथ्यात्व का भान होता है। जो जागा नहीं, उसके लिए वह 'अनर्थ' कैसे कहा जायगा? वैसे ही दार्शनिकों द्वारा दर्शन सुना कि यह संसार मिथ्या है, उसमें सार नहीं, तो भी वह चीज जँचेगी नहीं। यह स्थिति तब तक रहेगी, जब तक विषयों पर से ध्यान हटा नहीं है। उल्टे घड़े पर कितना भी पानी डालो, वह कभी घड़े के अन्दर नहीं जा सकता।

ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि सभी अहंकार से चिपके हुए हैं :

**( २८.३ ) शोक-हर्ष-भय-क्रोध-लोभ-मोह-स्पृहादयः।**
**अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः॥**

—११.२८.१५.

शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जो इनके परिवार में हैं, सारे अहंकार को लागू होते हैं। जन्म और मृत्यु को भी उसके साथ जोड़ दिया है। पर ये सारे आत्मा को लागू नहीं होते और न देह को ही लागू होते हैं। देह और आत्मा से भिन्न एक तीसरी वस्तु है, अहंकार! उसीको यह सारा लागू होता है। अहंकार ने इन सबको पकड़ रखा है। मृत्यु से दुःख किसे हुआ? अहंकार को। आत्मा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

यह सारा अज्ञानी का वर्णन हुआ। अब ज्ञानी पुरुष का वर्णन कर रहे हैं :

**( २८.४ ) अमूलमेतद् बहु-रूप-रूपितं**
**मनो-वचः-प्राण-शरीर-कर्म।**
**ज्ञानासिनोपासनया शितेन**
**च्छित्त्वा मुनिर् गां विचरत्यतृष्णः॥**

—११.२८.१७.

जितने भी काम होते हैं, वे मन, वाणी, प्राण या शरीर द्वारा होते हैं। लेकिन जो भी काम होते हैं, वे निराधार हैं। उन्हें कोई आधार नहीं। इसलिए ज्ञानी उन्हें काटता है और पृथ्वी पर विचरता रहता है—**मुनिः गां विचरति**। 'गाम्' यानो पृथ्वी पर। पृथ्वी पर वह कैसे विचरता है? तृष्णारहित होकर—**अतृष्णः**। किन्हें काटकर विचरता है? **मनो-वचः-प्राण-शरीर-कर्म च्छित्त्वा**—मन, प्राण आदि से जो कर्म, जो हलचलें या जो अभिमान होता है, उन सबको काटकर। कैसे काटेगा? काटने का साधन कौन-सा है? **ज्ञानासिना उपासनया**—ज्ञानरूपी खड्ग से। **शितेन**—जो प्रखर या तीक्ष्ण किया हुआ है। जिस चीज पर औजार की धार तीक्ष्ण करते हैं, उसे संस्कृत में 'शाण' कहते हैं। यहाँ वह शाण कौन-सा है? **उपासनया**—उपासनारूपी शाण पर ज्ञान-खड्ग को धार लगाकर, सारे कर्मों को काटते हैं। वे कर्म कैसे होते हैं? **अमूल** यानी निर्मूल। जब वह तृष्णारहित होकर घूमता है, तो उसके द्वारा दुनिया के बहुत बड़े-बड़े काम बनते हैं, क्योंकि उसके अपने कामों का तो प्रश्न ही नहीं रहता। वह स्वयं तृष्णारहित है। वह समझता है कि यह सारा भासमान है, मृग-जलवत् है। इतना सारा ग्रामदान का काम चला। यदि भूकम्प आ जाय, तो सब जमीन अन्दर चली जायगी और एक बड़ा समुद्र बन जायगा। इसलिए ग्रामदान का काम करनेवाला व्यक्ति भी अगर उसमें आसक्ति रखेगा, तो डूब जायगा। इसीलिए मुनि तृष्णारहित होकर विचरता है। इस कर्म के रूप बहुत होते हैं—**बहु-रूप-रूपितम्**। फिर भी **मुनिः विचरति अतृष्णः**।

(२८.५) **समाहितैः कः करणैर् गुणात्मभिर्**
**गुणो भवेन्मत्सुविविक्त-धाम्नः।**
**विक्षिप्यमाणैर् उत किं नु दूषणं**
**घनैरुपेतैर् विगतै रवेः किम्॥**

११.२८.२५.

ज्ञानी सोच रहा है कि सारा इन्द्रियग्राम (इन्द्रिय-समूह) समाहित रहा, शान्त रहा तो मुझे क्या लाभ होनेवाला है—**समाहितैः करणैः कः गुणो भवेत्**? 'गुण' यानी लाभ। और इन्द्रियाँ विक्षिप्त रहीं, तो क्या बिगड़ेगा?—**विक्षिप्यमाणैः करणैः किं नु दूषणम्**? मिसाल दी: मानो बादल छा गये या बिखर गये, तो सूर्यनारायण का क्या बिगड़ा या क्या

सुधरा ? बादल बिखर गये, तो हमें सूर्यनारायण का दर्शन होता है, लेकिन उससे सूर्य को कोई लाभ नहीं। बादल छा गये, तो उससे हमें उदासीनता महसूस होती है, पर उसमें सूर्य की कोई हानि नहीं। ज्ञानी की उदासीनता या तटस्थता इसी तरह की होती है। चाहे इन्द्रियाँ शान्त रहें या विक्षिप्त, ज्ञानी को उससे कोई मतलब नहीं। इसका अर्थ हुआ, वह इन्द्रियों से अलग है। पुनः वह ज्ञानी कैसा है ? तो बताते हैं : **मत्सु-विविक्तधाम्नः**—जिसे मेरा ( भगवान् का ) धाम स्पष्ट हुआ, भगवान् के स्वरूप का स्पष्ट दर्शन हो गया है। उसे क्या लाभ और क्या हानि, चाहे इन्द्रियाँ शान्त हों या विक्षिप्त ?

इस श्लोक में 'गुणात्मभिः' शब्द डालकर हमें बहकाया है। उससे अर्थ लगाने में जरा मुश्किल होती है। यहाँ 'गुण' शब्द के दो अर्थ लिये हैं। इन्द्रियाँ त्रिगुणात्मक हैं और गुण यानी लाभ। इस तरह एक ही शब्द यहाँ दो अर्थों में आया है, इसलिए अर्थ करनेवाला गोता खाता है।

इन्द्रियों का स्वरूप त्रिगुणात्मक होता है। सुबह उठते हैं, तो उत्साह होता है; वह सत्त्वगुण है। फिर भूख लगने लगती है, तो भोजन बनाने, खाने की प्रेरणा होती है; वह रजोगुण है। दोपहर में खाने के बाद इन्द्रियाँ लेटने को कहती हैं यानी तमोगुण आया। सुबह सत्त्वगुण है तो प्रार्थना करें, अध्ययन करें। भूख लगी तो थोड़ा श्रम करें, भोजन बनाकर खा लें। अब इन्द्रियाँ लेटने को कह रही हैं तो थोड़ा लेट लें, उसमें हमारा क्या बिगड़नेवाला है ? अर्थात् गुणों के अनुसार हम अपना कार्यक्रम बनायें, व्यवस्था कर दें तो कुछ बिगड़ता नहीं। इस तरह ज्ञानी उन गुणों के वश होता नहीं, तटस्थ उदासीन ही रहता है।

भगवान् समझा रहे हैं कि फिर भी गुणों का सङ्ग छोड़ देना चाहिए। कब तक ?

**( २८.६ ) तथापि संगः परिवर्जनीयो**
**गुणेषु माया-रचितेषु तावत्।**
**मद्भक्ति-योगेन दृढेन यावद्**
**रजो निरस्येत मनः-कषायः॥**

—११.२८.२७.

जब तक मेरे दृढ़ भक्तियोग से रजोगुण निरस्त नहीं होता, तब तक गुणों का सङ्ग छोड़ देना चाहिए, क्योंकि माया से रचित गुणों की संगति परिवर्जनीय है। जब तक रजोगुण का निरसन नहीं होता, तब तक सावधान रहना चाहिए। कब तक सावधान रहना चाहिए? जब तक **मनः कषायः**—मन का मैल, चित्त का मैल नहीं गया तब तक। वह कैसे जायगा? **मद्भक्तियोगेन दृढेन**—मेरे दृढ़ भक्तियोग से। भगवान् की भक्ति बढ़ाते जाना चाहिए। उससे चित्त का मैल धुल जायगा और रजोगुण का निरसन होगा।

यहाँ भगवान् खतरे की सूचना दे रहे हैं। पहले बताया, चाहे इन्द्रियाँ विक्षिप्त हो जायँ या शान्त, उससे ज्ञानी को कोई हानि-लाभ नहीं। फिर कह रहे हैं कि 'मनःकषायः'—रजोगुण जब तक परास्त नहीं होता, तब तक सावधान रहना चाहिए। ज्ञानदेव महाराज ने कहा है :

**तैसीं प्राप्तेंहि पुरुषें इंद्रियें लालिलीं जरी कौतुकें।**
**तरी आक्रमिला जाण दुःखें। सांसारिकें ॥**

प्राप्त अर्थात् पहुँचे हुए पुरुष का कर्तव्य ज्ञानदेव महाराज बता रहे हैं—उसने इन्द्रियों का सहज लालन किया, तो भी उस पर सांसारिक दुःखों का आक्रमण होगा। इसलिए प्राप्त पुरुषों को भी इन्द्रियों से सावधान रहना चाहिए। मैं तैरना सीख रहा था। एक दिन हाथ-पाँव मारते-मारते किनारे पहुँच गया। हाथ किनारे लगते ही मैंने पाँव मारना छोड़ दिया, तो बहने लगा। हाथ किनारे लगने से ही हम किनारे पहुँच गये, ऐसा नहीं। जब तक पाँव किनारे नहीं लगते, तब तक हम सुरक्षित नहीं। सारांश, जब तक पूर्ण स्थिरता नहीं आती, तब तक सावधान रहना चाहिए। ज्ञानेश्वर महाराज के इस वचन का संस्कृत रूपान्तर करें, तो वह यह होगा :

**प्राप्तेनापि पुरुषेण यदि**
**इन्द्रियाणि कौतुकेन लालितानि ॥**
**सांसारिकेन दुःखेन आक्रान्तो**
**भविष्यति इति विद्धि ॥**

यहाँ भागवत समाप्ति पर है। ये आखिर-आखिर के श्लोक हैं। इनमें ब्रह्म-स्थिति का वर्णन है। अभी तो हमारी देह-स्थिति चल रही है।

कभी कोई मन:स्थिति में होता है, तो कभी कोई इन्द्रिय-स्थिति में। ऐसी भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थितियाँ हुआ करती हैं। पर मनुष्य जब ब्रह्म-स्थिति में आयेगा, तो उसकी व्यवहार-दृष्टि कैसी रहेगी? इसका वर्णन इन श्लोकों में किया जा रहा है:

**( २८.७ ) करोति कर्म क्रियते च जन्तुः**
**केनाप्यसौ चोदित आनिपातात्।**
**न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि**
**निवृत्त-तृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥**

—११.२८.३०.

दीखता है कि प्रत्येक जन्तु यानी हर प्राणी दुनिया में कर्म करता है। वह कर्म करता है, इतना ही नहीं, उसके द्वारा कर्म किया जाता है। हमने पृथ्वी को लात मारी, तो हम 'कर्ता' बने। लेकिन (लात मारने से) 'पाँव को जोर से लगा' तो हम कर्म बने। मतलब यह कि हम दुनिया को बनाते जाते हैं तो दुनिया भी हमें बनाती है, यानी हम दुनिया द्वारा बनते हैं।

यहाँ कर्म का अर्थ 'विक्रिया' जैसा है—**करोति कर्म क्रियते च।** मनुष्य काम करता है। उस काम का उस पर उल्टा परिणाम होता है। वह चीज हम पर उल्टी आती है। कुल्हाड़ी लेकर पेड़ काटने लगे या हथौड़ी से पत्थर फोड़ने लगे, तो हाथ में फफोला हो आया। पत्थर तो हमने काटा, हम कर्ता बने, लेकिन पत्थर ने भी हमें काटा—फफोला किया, यानी हम कर्म बने। डॉ० धीरुभाई बाबा को 'मसाज' (मालिश) करता है। वह कर्ता है, लेकिन मसाज' करते-करते उसे पसीना आता है, तो वह कर्म बनता है। यानी कर्म का भी परिणाम होता है।

कर्म करते-करते प्राणी थक जाते हैं, फिर भी करते ही जाते हैं। **चोदितः**—किसीकी प्रेरणा से कर्म करते ही जाते हैं। कब तक? मनुष्य रोज घर में पैसा डालता है, लेकिन उस घर को एक छेद है। किसी हौज को नीचे छेद हो और ऊपर से पानी डाला जाय, तो वह कभी भरेगा ही नहीं। ठीक ऐसे ही घर कभी भरता ही नहीं। वह खाली ही रहता है। भरते-भरते बेचारा थक जाता है, फिर भी कर्म करता रहता है। कब तक? **आनिपातात्**—नीचे गिरने तक यानी मरने तक। निपात यानी मृत्यु।

विद्वान् मनुष्य की क्या हालत है? वह भी प्रकृति में स्थित है, जैसे कि दूसरे लोग। फिर भी वह न कुछ करता है, न किसीसे किया जाता है। वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता, क्योंकि वह **निवृत्त-तृष्णः** है— नचानेवाली तृष्णा से मुक्त है। बुद्ध भगवान् ने उसे 'तण्णा' कहा है। वह मनुष्य को नचाती है। पर विद्वान् की तृष्णा निवृत्त हो गयी है। वह आत्मसुख की अनुभूति में मग्न है—**स्वसुखानुभूत्या**।

आत्मसुख की यह अनुभूति हरएक को हो सकती है। कैसे? तो देखिये : दो क्रियाओं के बीच जो क्षण होता है, उस पर ध्यान दीजिये और उसे बढ़ाते जाइये। निद्रा तो गयी, लेकिन जागने के बाद का काम शुरू नहीं किया गया। इस बीच जो अवस्था होती है, उसमें आत्म-स्थिति का भान हो सकता है। रात बीत गयी, लेकिन दिन नहीं निकला। इस बीच जो समय होता है, उसमें आत्मस्थिति का अनुभव हो सकता है। हम साँस अन्दर लेते हैं और बाद में बाहर छोड़ते हैं। इस लेने और छोड़ने के बीच जो थोड़े समय का फासला है, वह निर्विकार होता है। ज्ञानदेव महाराज ने उपमा दी है : जाड़ों के दिनों में नदी का जो रूप है, वह आत्मस्थिति है। बारिश में नदी को बाढ़ आती है और गरमी में नदी सूख जाती है। लेकिन जाड़ों के दिनों में नदी को न बाढ़ आती है, न सूखा। इस तरह बीच की अवस्था में मनुष्य को आत्म-स्थिति का भान होता ही है।

बाबा को इसका अनुभव आया है। एक यात्रा हो गयी, दूसरी शुरू नहीं हुई थी, तो बाबा परंधाम में बैठा—**स्वसुखानुभूत्या**। यह बीच की जो स्थिति है, उसमें मनुष्य आत्मस्थिति में रहता है। यह समय बढ़ाते जायँ, तो वह स्थिति आ सकती है—**विद्वान् प्रकृतौ स्थितः**—ज्ञानी प्रकृति में भी रहता है। सामान्य मनुष्य के नाते उसका खाना-पीना भी चलता रहता है। लेकिन वह अपनी ओर से न कोई कर्म करता है, न किसी कर्म का परिणाम उस पर होता है। वह न 'कर्ता' है और न किसीका 'कर्म' बनता है।

(२८.८) **तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं**
**शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम्** ।
**स्वभावमन्यत् किमपीहमानं**
**आत्मानमात्मस्थमतिर् न वेद** ॥

—११.२८.३१.

**आत्मानम् आत्मस्थमतिः न वेद**—जिसकी बुद्धि आत्मनिष्ठ हो गयी, वह अपने को जानता ही नहीं। वह खड़ा रहता है, बैठता है, घूमता है, सोता है—इस तरह चार अवस्थाएँ बतायी हैं। ये चार अवस्थाएँ सभी जानते हैं।

**कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।**
**उत्तिष्ठन् त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥**

अर्थात् सोनेवाला कलियुग में रहता है, बैठनेवाला द्वापर में, खड़े होते हुए त्रेता में आता है और चलने लगे तो कृतयुग में पहुँच जाता है।

खड़ा रहना, बैठना, घूमना, सोना—ये कर्म ज्ञानी भी करता है, जैसे कि दूसरे सांसारिक लोग। **उक्षन्तम्**—मल-मूत्र-विसर्जन आदि संस्कार यह करता है और अपना अन्न-भाग भी लेता है। इसके अलावा और भी कुछ करता है—**किमपि ईहमानम्**। ईह का अर्थ, करना या इच्छा है। ज्ञानी अपने स्वभाव के अनुसार और भी कुछ करता है: **स्वभाव-मन्यत् किमपीहमानम्**। फिर भी वह अपने को जानता नहीं। यानी वह नहीं जानता कि 'ये क्रियाएँ मैं कर रहा हूँ।' वे होती रहती हैं, पर उसे इसकी अनुभूति नहीं होती कि 'मैं कर रहा हूँ।'

मुझे एक मिसाल याद आती है। गाड़ी के डिब्बे में दो आदमी थे। एक लेटा था, तो दूसरा घूम रहा था। लेटनेवाले ने दूसरे से पूछा: 'क्यों घूमते हो?' तो उसने कहा: 'गाड़ी की गति चालीस मील है और मैं चार मील की गति से चल रहा हूँ। दोनों गतियाँ इकट्ठी हो जायँ तो ४४ मील की गति आयेगी और मैं जल्दी पहुँचूँगा।' यह है मनुष्य की मूर्खता! वह ईश्वर की गाड़ी में बैठा है और उसमें अपनी गति भी मिलाना चाहता है। यानी अहंकार ले लेता है। कर्ता तो ईश्वर है, लेकिन अहंकार के कारण हम व्यर्थ ही वह बोझ उठा लेते हैं।

एक मिसाल और, जो मैं बहुत दफा कह चुका हूँ। एक मनुष्य घोड़े पर बैठा था। उसके पास सामान की एक गठरी थी। उसे लगा कि घोड़े का भार कुछ हलका करना चाहिए। तो, उसने घोड़े की पीठ पर की गठरी अपने सिर पर ले ली!

दुनिया का भार ईश्वर पर है ही। मनुष्य समझता है कि ईश्वर का कुछ बोझ कम करने के लिए थोड़ा भार मैं ही उठा लूँ। पर क्या यह

हो सकता है ? एक बार घोड़े का भार हम हलका कर सकते हैं, यदि घोड़े पर से उतर जायँ। लेकिन ईश्वर का भार कम नहीं कर सकते, क्योंकि हम उसके सिर पर बैठे हैं। यह समझने की बात है, लेकिन यह न जानते हुए मनुष्य समझता है कि मैं ईश्वर का थोड़ा भार हलका कर दूँ। ज्ञानी पुरुष यह भार नहीं उठाता। वह अपनी आत्मस्थिति में बना रहता है।

ज्ञानदेव महाराज ने कहा है : **रोम वाहूनि रोमा नेणें**—हम अपने बालों का बोझ उठाते हैं, लेकिन वह बोझ महसूस नहीं करते। उसका भार हम पर नहीं आता। इसी प्रकार ज्ञानी जो कर्म करता है, उसका भार उसे नहीं होता। बालों के भार के समान वह सहज हो जाता है।

**(२८.९) यदि स्म पश्यत्यसदिंद्रियार्थं**
**नानानुमानेन विरुद्धमन्यत्।**
**न मन्यते वस्तुतया मनोषी**
**स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम्॥**

—११. २८.३२.

यह एक कठिन श्लोक है : **यदि स्म पश्यति असदिंद्रियार्थं न मन्यते वस्तुतया मनीषी**—यद्यपि ज्ञानी मिथ्या इन्द्रियों के विषयों को देखता है, तथापि वह मानता है कि वे यथार्थ में वास्तविक नहीं हैं। वह समझता है कि भासिक कार्य हो रहा है। **मन्यते वस्तुतया मनीषी**—यह एक वाक्य है। मनीषी इसे वास्तविक नहीं मानता। जैसे मृगजल को देखते हैं, पर वह वास्तव में होता नहीं, वह भासमात्र मालूम देता है, वैसे ही ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों को देखता है। वह वैसा क्यों देख पाता है ? **नानानुमानेन**। उसके चित्त में तर्क बैठा है कि ये तो 'नाना' हैं। उसका यह अनुमान है। अनुमान यानी तर्क। 'नाना' वाला तर्क उसके चित्त में बैठ गया है। यह 'नाना' वाला तर्क क्या है ?

हमारे शिक्षक ने हमें एक मिसाल दी थी। एक बर्तन में उबलता हुआ पानी रखा, दूसरे बर्तन में बरफ का ठंडा पानी रखा और तीसरे बर्तन में सादा पानी रखा। फिर एक लड़के को गरम पानी में उँगली डालने को कहा और दूसरे को ठंडे पानी में। थोड़ी देर के बाद दोनों को सादे पानीवाले बर्तन में उँगली डालने को कहा। जिसने गरम पानी

में उँगली डाली थी, वह कहने लगा : 'अहा ! कितना ठण्डा पानी है।' जिसने ठंडे पानी में उँगली डाली थी, वह कहने लगा : 'कितना अच्छा गरम पानी है।' पानी तो एक ही था, लेकिन एक को गरम लगा, तो दूसरे को ठंडा। वह पानी ठंडा है या गरम ? जवाब है : वह 'नाना' है। चीज वही है, लेकिन उसी चीज का तर्क अनेक प्रकार से किया जा सकता है। चीज का स्वरूप 'नाना' है। ज्ञानी के चित्त में 'नाना' वाला तर्क पैठ गया है।

इसे 'नाना'-सिद्धान्त कहते हैं। चीज के अनेक रूप होते हैं, लेकिन वे वास्तविक नहीं, मिथ्या हैं। यही बँगला देखिये। इन दिनों हम दिन-भर अन्दर नहीं, बाहर ही बैठते हैं। लेकिन गरमी के दिनों में अन्दर बैठेंगे। तो, यह बँगला अच्छा है, या नहीं ? वह 'नाना' है। सत्य वस्तु शाश्वत होती है। जो मिथ्या है, वह 'नाना' है। मनुष्य के चित्र होते हैं। महात्मा गांधी के चित्र बताये जाते हैं—दो साल का बच्चा, छह साल का बच्चा, जवान, बूढ़ा ! छह साल के बच्चे का बूढ़े के साथ कोई साम्य नहीं दीखता। पहचान नहीं हो पाती कि यह इसी बूढ़े का चित्र है। इसका मतलब है कि शरीर भी 'नाना' है।

ज्ञानी सभी विषयों को देखता है, फिर भी समझता है कि वे 'नाना' हैं। वे लफंगे हैं। 'लफंगा' यानी जिसका रूप स्थिर नहीं। नित रूप बदलता ही रहता है। आज एक रूप, तो कल दूसरा ! आजकल फोटो लेने का रिवाज है। हमारी माँ का एक भी फोटो नहीं। माँ को फोटो के लिए बैठने को कहा जाता, तो वह कहा करती : 'देह तो मिथ्या है, उसका क्या फोटो लेना ? चित्र तो भगवान् का होना चाहिए।'

तो, ज्ञानी पुरुष सब विषयों को 'नाना' मानता है। उसका निश्चय हो गया है कि आत्मा से भिन्न जो वस्तु है, वह अपने आत्म-हित के विरुद्ध है। ज्ञानी कुछ देखता-सुनता नहीं, ऐसा नहीं। वह देखता, सुनता है। वह ठंडा है या गरम है, यह देखता है। उसे वेदना भी होती है, फिर भी अन्दर से पहचानता है। **नानानुमानेन**—नानावाले तर्क में जो पकड़ा जायगा, वह **अन्यत् विरुद्धम्**—आत्म-हित के विरुद्ध वस्तु है, यही माना जायगा। इसलिए **मनीषी** यानी जिसका अपने मन पर काबू है, वह देखता है, फिर भी मानता नहीं—**न मन्यते**। उसके चित्त में उन चीजों का कोई आकर्षण नहीं रहता।

**स्वाप्नं यथा तिरोदधानम्**—'स्वाप्नम्' यानी स्वप्न-दर्शन। जैसे स्वप्न का दर्शन तिरोहित यानी समाप्त हो जाता है। कब? **उत्थाय**—जाग जाने के बाद। मनुष्य नींद की अवस्था में स्वप्न को सत्य मानता है, पर जागृति आने पर वह टिकता, तो लोग उसे भी सत्य मानते। लेकिन जागृति में वह दीखता नहीं। इसी तरह दूसरी चीजें, जो जागृति दीखती हैं, गाढ़ निद्रा में खतम हो जाती हैं। इसलिए उनकी भी क्या आसक्ति रखी जाय? आजकल 'रिएलिज्म' या वास्तव-वाद बहुत चलता है। कहते हैं, इन्द्रियों से जो चीजें पहचानी जाती हैं, वे ही वास्तव हैं। लेकिन यह वास्तव-वाद भी **'नानानुमानेन'**—नानानुमान से टिकता नहीं। वह अवास्तव-वाद है।

(२८.१०) **पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र**
**अज्ञानमात्मन्यविविक्तमंग !**
**निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव**
**न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥**

—११.२८.३३.

ज्ञानी एकदम ज्ञानी नहीं हुआ, अज्ञानी ही ज्ञानी बना। अज्ञानावस्था में उसने गुण-कर्म-चित्र पकड़ा था—**गुणकर्मचित्रं गृहीतं ( ज्ञानात् ) पूर्वम्।** ज्ञान से पहले उसने वह चित्र सत्य मानकर पकड़ा था। लेकिन उस समय वह अज्ञानी था। अविविक्त था। अविवेक के कारण आत्मा से अज्ञान चिपका हुआ था—**अज्ञानम् आत्मनि अविविक्तम् अंग !** अङ्ग सम्बोधन है। उसका अर्थ है 'अरे अरे'। तो प्रथम ज्ञानी की आत्मा में अज्ञान चिपका हुआ था, अब वह निवृत्त हो गया। उसने फिर से चिन्तन किया, निरीक्षण किया—**पुनरीक्षया,** तो वह चित्र चला गया। वह पकड़ा गया, तब तो चित्र था। अब पुनः ईक्षा की—पुनः चिन्तन किया, तो वह चित्र चला गया !

आत्मा की स्थिति क्या है? **न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा**—आत्मा न पकड़ा, न छोड़ा जाता है। जिसे पकड़ या छोड़ सकेंगे, वह 'नाना' होगा। आत्मतत्त्व को हम पकड़ नहीं सकते और न फेंक ही सकते हैं। वह तो स्वयं आप ही हैं। क्या आप अपने ही कंधे पर बैठ सकते हैं? पकड़ना या छोड़ना खुद नहीं, अपने से अलग को ही लागू होता है औ जिसे लागू होता है, वह 'नाना' है।

कहते हैं : 'आत्मज्ञान प्राप्त करना है।' पर क्या 'आत्मज्ञान' भी कोई चीज है ? आत्मज्ञान यानी आत्मा को पकड़ना। आत्मा तो अपने स्थान पर ही है, उसे क्या पकड़ेंगे और क्या छोड़ेंगे ? असल में जो छोड़ना था, उसीको पकड़ रखा है। उसे छोड़ दें, तो आत्मज्ञान है ही। आत्मज्ञान 'पॉजिटिव' ( विधायक ) नहीं, 'निगेटिव' ( निषेधक ) चीज है। 'अनात्म' को जो पकड़ रखा है, उसीको छोड़ना है। आत्मा को न पकड़ना है और न छोड़ना।

**( २८.११ ) यथा हि भानोरुदयो नृ-चक्षुषां**
**तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते।**
**एवं समीक्षा निपुणा सती मे**
**हन्यात् तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥**

—१०.२८.३४.

हमने देखा कि ज्ञानी केवल इच्छा से निवृत्त होता है। उसे कुछ भी करना नहीं पड़ता। निवृत्त होने के लिए कुछ कार्यक्रम भी नहीं करना पड़ता। अँधेरा फैला हुआ है, उसे दूर करना हो तो क्या करना पड़ेगा ? केवल इच्छा यानी निरीक्षण से वह दूर होता है। हमने यह भी देखा कि आत्मा न पकड़ा जाता है, न उसका विसर्जन हो सकता है। यही बात इसमें उदाहरण से स्पष्ट की गयी है।

**भानोः उदयः**—सूर्योदय हुआ। सूर्य क्या करता है? मनुष्य की आँखों के सामने जो अँधेरा है, उसे दूर करता है—**नृ-चक्षुषां तमो निहन्यात्**। लेकिन **न तु सद् विधत्ते**—वह सत् यानी विश्व को नहीं बनाता। विश्व तो पहले से है ही। वह विश्व-रचना नहीं करता। इतना ही काम करता है कि आपकी आँखें और विश्व के बीच जो अँधेरा था, उसे हटा देता है। विश्व तो पहले से ही था, उसे सूर्यनारायण ने प्रकट मात्र किया।

हम ग्राम-निर्माण की बातें करते हैं। लेकिन बाबा कहता है : 'सूर्य क्या करता है ? अँधेरा ही हटाता है। वह कोई निर्माण-कार्य नहीं करता। बाबा भी लोगों के दिलों का अंधेरा हटाने का काम करता है और उसीमें उसका काम खतम हो जाता है। विश्व बनाने का काम सूर्यनारायण का नहीं।'

भगवान् कह रहे हैं : **एवं समीक्षा निपुणा सती मे**—इस तरह जब मेरी समीक्षा निपुणा बनेगी, यानी मेरे बारे में ठीक से समीक्षा होगी,

तब मनुष्य की वुद्धि का अँधेरा दूर होगा। यहाँ 'मेरी समीक्षा' का अर्थ है, ब्रह्मविद्या। ब्रह्मविद्या जब निपुणा होगी, तब सामने का अँधेरा दूर होकर आत्मतत्त्व प्रकट हो जायगा। कारण, आत्मा तो है ही। उसे कुछ नया बनाना नहीं है। **तमिस्रं** यानी अज्ञान दूर हो जाने पर तो ज्ञान है ही। अज्ञान के कारण ही आत्म-तत्त्व प्रकट नहीं होता, इतनी ही बात है। इसीलिए कहा कि मेरी समीक्षा निपुणा बनेगी, तब आत्मा का दर्शन होगा।

( २८.१२ ) **अेष स्वयं-ज्योतिरजोऽप्रमेयो**
**महानुभूतिः सकलानुभूतिः।**
**अेकोऽद्वितीयो वचसां विरामे**
**येनेषिता वागसवश् चरन्ति ॥**

—११.२८.३५.

आत्मा कैसा है ? शंकराचार्य ने कहा है : **दीपस्य नान्यदीपेच्छा**—दीपक को देखने के लिए दूसरे दीप की जरूरत नहीं पड़ती। **स्वबोधे नान्यबोधेच्छा**—अपने बोध के लिए दूसरे बोध की जरूरत नहीं। वैसे ही परमात्मा को देखने के लिए, उसे सिद्ध करने के लिए दूसरे किसी प्रमाण की जरूरत नहीं—**अप्रमेयः**। वह **स्वयं-ज्योतिः अजः**—स्वयंसिद्ध और नित्य है। **महानुभूतिः सकलानुभूतिः**—'महान्' यानी विश्व की सभी अनुभूतियाँ वहाँ इकट्ठी पड़ी हैं। 'सकल' यानी 'ज्वाइंट एण्ड सेवरल रिस्पान्सिबिलिटीज्'—वह एक-एक अवयव को व्याप्त करता और सबको इकट्ठा भी व्याप्त करता है। सकल यानी उसमें एक-एक कला आती है। हमारे हृदय में ज्ञान-कला है। सारे शरीर में जो अनुभव होता है, वह कुल उसीको होता है। कहीं फोड़ा हुआ, हाथ पर मक्खी बैठी, पाँव में मोच आयी, तो वह इन सबको इकट्ठा जानता है। और एक-एक कला को भी जानता है। बड़े-बड़े मन्त्रियों को 'डिटेल' ( संपूर्ण ) मालूम नहीं होता। वे सर्वसाधारण परिस्थिति ( 'ओवर ऑल सिच्यूएशन' ) जानते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो एकआध चीज 'डिटेल' में जानते हैं, लेकिन 'ओवर ऑल सिच्युएशन' नहीं जानते। लेकिन आत्मा सब इकट्ठा जानता है और एक-एक कला को भी जानता है। यह वाक्य जब मैं पढ़ता हूँ, तो मुझे स्फूर्ति आती है।

अभी कहा गया कि आत्मा स्वयं-ज्योति है, जन्मरहित है और प्रमाण से सिद्ध करने की बात नहीं। हम किसीसे पूछते हैं : 'आने में बहुत देर हुई ?' वह कहता है : 'मैं जंगल में खो गया था।' असल में वह खोया नहीं, बाकी सब लोगों को उसने खोया। वह खुद अपनी जगह पर ही था। इसलिए वहाँ सिद्ध करने की बात है ही नहीं। ज्ञानदेव ने कहा है :

**शून्य स्थावर जंगम। व्यापुनि राहिला अकळ।**
**बाप रखुमादेवी वरु। विठ्ठलु सकळ॥**

('शून्य, स्थावर, जंगम सब कुछ व्याप्त करनेवाला वह अकेला है। रखुमादेवी का पति वह मेरा पिता विट्ठल सकल है।')

यहाँ 'अकल' और 'सकल' ये दो शब्द आये हैं! गुजराती में जिसे 'विगतवार जाणवुं' कहते हैं, वैसा ही यह है। यानी एक-एक चीज जानना और सब कुछ जानना।

**अेकोऽद्वितीयः**—वह एक है और अद्वितीय है। यह सौभाग्य कब प्राप्त होगा ? जब सब वाणियाँ शान्त होंगी—**वचसां विरामे**। 'वचसां' अनेक वचन है। वाणी चार प्रकार की मानी गयी है। एक नाभि से आती है (परा), दूसरी हृदय से (पश्यन्ती), तीसरी कण्ठ से (मध्यमा) और चौथी वैखरी है। हम चिन्तन करते हैं, वह अव्यक्त नाभिस्थान में होता है। फिर हृदय में उसका ध्यान होता है। फिर कण्ठ में उसका रूप बनता है। फिर वह प्रकट होता है—वैखरी के रूप में। ये चार वाणियाँ जहाँ शान्त होंगी, वहाँ एक और अद्वितीय प्रकट होगा।

पुनः उसी आत्मा का परिचय कराते हैं : **येन इषिता** यानी जिसकी प्रेरणा से **वाग् असवः**—'वाक्' यानी वाणी, 'असवः' यानी प्राण अर्थात् वाणी और प्राण **चरन्ति**—काम करते हैं। जिसको प्रेरणा से वह वाणी प्रकट होती है। यह वचन केन उपनिषद् से लिया गया है : **केनेषितां वाचमिमां वदन्ति।**

यहाँ यह समझना चाहिए कि वाणी शान्त होने के बाद भी किसी-किसीको बोलने की प्रेरणा होती है और वह बोलता है, तो उसका क्या तात्पर्य है ? इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझें : घी बनाने के लिए हम मक्खन गरम करते हैं, तो पहले वह 'कड्-कड्' आवाज करता है। जब उसका वह बोलना बन्द हो जाय, तो समझा जाता है कि घी बन गया। जब

तक आवाज आती रहे तब तक घी नहीं बना, ऐसा माना जाता है। हाँ, तो आवाज बन्द हो गयी और घी बन गया। फिर क्या हुआ ? वह घी चूल्हे पर रखा और उसमें पूरी बेलकर पकाने को डाली तो फिर से आवाज करने लगा। घी पहले शान्त हो गया था, पर पूरी डालते ही पुनः आवाज करने लगा।

लेकिन समझना चाहिए कि ज्ञानी की वह आवाज उसकी अपनी नहीं होती। जब उसकी अपनी साधना चलती है, तो वह बोलता है और साधना पूरी हो जाने पर उसकी वाणियाँ शान्त हो जाती हैं। किन्तु **वचसां विरामे**—एक बार वाणियाँ शान्त होने पर भी वह बोलता है, क्योंकि उसका जो शिष्य है, वह कच्चा है। उसे पक्का करने के लिए बोलना पड़ता है। उसका अपना समाधान तो हो गया, लेकिन पास में कच्चा मसाला है, उसे पक्का बनाने के लिए वह आवाज करता है। यानी ज्ञानी को दूसरों पर अनुग्रह के लिए ही बोलना पड़ता है, अन्यथा उसको अपनी वाणियाँ तो शान्त हो चुकी हैं।

सारांश, कहा यह गया कि जिसकी प्रेरणा से वाणी और प्राण काम करते हैं, जो स्वयंज्योति है और जिसे सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की जरूरत नहीं, वह महानुभूति, सकलानुभूति आत्मतत्त्व जब वाणी शान्त होती है, तभी प्रकट होता है।

# १२. कृष्ण-चरित्र-स्मरण

( ३१.१० ) भवभयमपहन्तुं ज्ञान-विज्ञान-सारं
निगमकृदुपजह्रे भृंगवद् वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥

—११.२९.४९.

**निगमकृदुपजह्रे भृंगवद् वेदसारम्**—भगवान् कृष्ण ने वेद का निर्माण किया, इसलिए वे हुए **निगमकृत्**। वेद का निर्माण करनेवाले उन भगवान् कृष्ण ने उद्धव के लिए 'वेदसार', **उपजह्रे**—ग्रहण किया यानी निकाला, किसकी तरह ? तो **भृंगवद्**—जैसे भृङ्ग यानी भँवरा फूलों में से सार ले लेता है, वैसे ही वेद को पैदा करनेवाले कृष्ण ने वेद का सार—**वेदसारम्**—निकाला। किसलिए निकाला ? **भवभयम् अपहन्तुम्**—भवभय दूर करने के लिए। वह वेदसार कैसा है ? **ज्ञान-विज्ञान-सारम्**—ज्ञान-विज्ञान का सार ही है।

**अमृतम् उदधितश्च अपाययद् भृत्यवर्गान्**—( जिन्होंने मानो वेद- ) समुद्र से यह अमृत निकालकर अपने भृत्यों, सेवकों को पिलाया, **पुरुषम् ऋषभम् आद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि**—उन आद्य महापुरुष, जिनकी भगवान् 'कृष्ण' संज्ञा है, हम प्रणाम करते हैं।

●

# अनुक्रमणिका

[ 'भागवत धर्म सार' में श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध से ही ३०६ श्लोक चुने गये हैं। उनमें से 'मीमांसा' में ९३ श्लोक लिये गये हैं। अकारादि क्रम से उनका संदर्भ यहाँ दिया जा रहा है। चार खानों में दिया गया अनुक्रम निम्न प्रकार से है—

१. 'भागवत धर्म सार'—प्रकरण और श्लोक की संख्या
२. आरम्भिक पद—अकारादि क्रम से
३. मूल 'श्रीमद्भागवत्' के एकादश स्कंध के अध्याय और श्लोक की संख्या
४. 'भागवत धर्म सार' और 'भागवत धर्म मीमांसा' की पृष्ठ संख्या ]

### विनोबाजी का

## धर्म-समन्वय-साहित्य

गीता-प्रवचन
स्थितप्रज्ञ-दर्शन
गीताई-चिन्तनिका
महागुहा में प्रवेश
विज्ञान युग में धर्म
गीता-सार ( अष्टादशी )
ईशावास्य-वृत्ति
साम्य-सूत्र
अष्टादशी ( उपनिषद् अनुवाद )
समणसुत्तं
धम्मपदं
ख्रिस्त धर्म-सार
कुरान-सार ( हिन्दी )
विनयांजलि
मनु-शासनम्
जपुजी
नाम-माला
अध्यात्म-तत्त्व-सुधा

### बालकोबाजी का

## अध्यात्म-साहित्य

गीता-तत्त्व-बोध खण्ड १-२
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
अभंगव्रत-विवेचन
पथदीप
गुणनिधि बापू
अज्ञान-निवृत्ति-साधना के सत्रह पहलू
जीवन-साधना

सर्व सेवा संघ
प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी